THE BOOK WAS DRENCHED

साहित्यदर्शन

—सैद्धान्तिक तथा समीक्षात्मक निबन्ध—



श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

१९४४ प्रथम संस्करण १०००
१९५० द्वितीय संस्करण १०००
मूल्य—
चार रुपये

शङ्कर प्रेस, मुजफ्फरपुर में मुद्रित
तथा
श्रीमती छाया देवी द्वारा प्रकाशित

क्रम

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

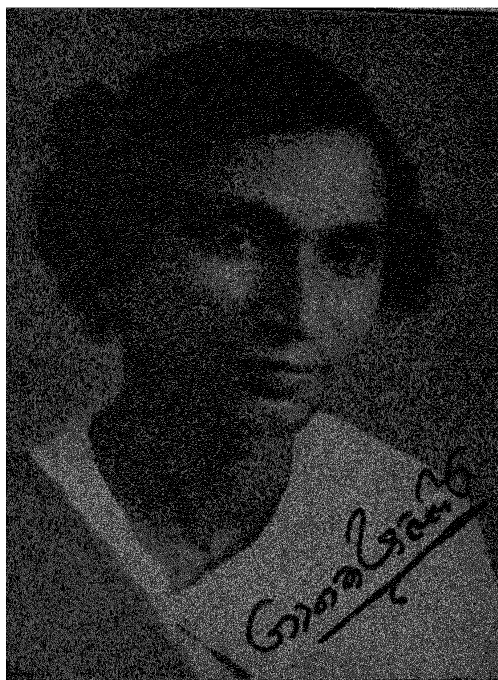
जन्म ई० १९१६; जन्मभूमि, मैगरा (गया)

प्रकाशित रचनाएँ :

संस्कृत :—	काकली	(गीतिकाव्य)	ई० १९३५
हिन्दी :—	रूप-अरूप	(गीतिकाव्य)	ई० १९४०
	कानन	(कहानियाँ)	ई० १९४१
	अपर्णा	(कहानियाँ)	ई० १९४२
	गाथा	(कथा-काव्य)	ई० १९४४
	साहित्यदर्शन	(निबन्ध-प्रबन्ध)	ई० १९४४
	तीर तरङ्ग	(गीतिकाव्य)	ई० १९४५
	शिप्रा	(गीतिकाव्य)	ई० १९४५

साहित्यदर्शन	(द्वितीय संस्करण)	ई० १९५०
शिप्रा	(,, ,,)	ई० १९५०
मेघगीत	(गीतिकाव्य)	ई० १९५१

राका-प्रकाशन : मुजफ्फरपुर ।



श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

परमपूज्य पिताजी के श्रीचरणों में
सादर समर्पित

नई कविता की भाँति नई आलोचना भी द्विवेदी-युग से छायावाद-युग में आकर नया रूप-रंग धारण कर चुकी है। उसकी वेश-भूषा में ही नहीं, आकृति-प्रकृति में भी अन्तर आ गया है। उसकी नई शैली और नवीन मान्यताएँ हो गई हैं। अपने नए व्यक्तित्व के अनुकूल वह अपना एक स्वतन्त्र दार्शनिक अस्तित्व भी ढूँढने लगी है। कहने का प्रयोजन यह है कि नई समीक्षा, पुरानी समीक्षा से भिन्न, नए ही साँचे में ढल रही है।

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री इसी नई धारा के आलोचक हैं। आलोचक ही नहीं, वे कवि और कहानीकार भी हैं और नई शैली की रचनाएँ करते हैं। 'रूप औ' अरूप' नामक उनका काव्य-संग्रह और 'कानन' तथा 'अपर्णा' नामक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके कवित्व में भी उनके पाण्डित्य का पूरा योग है। वे साहित्य के आचार्य हैं और देववाणी में भी ललित रचना करते हैं। वे बहु-भाषाविद् भी हैं। 'सप्तपर्ण' नामक उनका स त भाषाओं का रचना-संग्रह प्रकाशित होने ही वाला है। जानकीवल्लभजी प्राचीन साहित्य की पूरी जानकारी रखने वाले नवयुग के प्रौढ़ लेखक हैं। उनकी यह नवीन रचना 'साहित्य-दर्शन' हिन्दी में निश्चय ही सम्मान प्राप्त करेगी।

'साहित्य-दर्शन' एक आलोचनात्मक कृति है। इसकी आलोचनाएँ कई श्रेणियों में बँटी हुई हैं। आरंभ में साहित्य और आलोचना के स्वरूप पर कुछ लेख है। इन्हें हम 'सैद्धान्तिक आलोचना' के लेख कह सकते हैं। तत्पश्चात् 'आधुनिक हिन्दी आलोचना का विकास' और 'हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा' शीर्षक 'विवरणात्मक आलोचना' के दो लेख हैं। पुनः पुस्तक में 'मीरा और महादेवी' 'जयदेव और विद्यापति' 'मुद्राराक्षस और जूलियस सीज़र' 'गीता और गीताञ्जलि' शीर्षक लेख 'तुलनात्मक आलोचना' के निदर्शक हैं। 'साकेत की ऊर्मिला' 'प्रमीला की कल्पना' 'रवीन्द्रनाथ की उपमाएँ' 'रवीन्द्र की

उपेक्षिता' तथा 'रवि और कवि' 'भक्ति और शृंगार' आदि लेख 'प्रासंगिक या प्रकीर्णक आलोचना' के अंतर्गत आते हैं। पुस्तक के अंत में 'निराला की काव्यकला' शीर्षक एक बड़ा लेख या प्रबंध भी है जो 'व्यावहारिक आलोचना' का उदाहरण कहा जा सकता है। इस प्रकार आलोचना के कई भेद प्रस्तुत पुस्तक में प्राप्त होते हैं।

भूमिका मे आलोचना के इन अनेक स्वरूपों की विस्तृत चर्चा तो नहीं की जा सकती पर संक्षेप में इनका परिचय दे देना आवश्यक होगा। किन्तु इस कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व हम यह सूचित कर देना चाहते हैं कि नवीन आलोचना अबतक अपनी निश्चित शास्त्रीय परिपाटी नही बना सकी है, अभी वह निर्माणावस्था में है। अबतक उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ही प्रकाश में आई हैं, उन्हीं के आधार पर हमें उसे परखना होगा। दूसरी बात यह भी जान लेनी चाहिए कि इस युग के विभिन्न आलोचकों की आलोचनात्मक दृष्टि में भी पर्याप्त अंतर है और वे सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से साहित्यिक तथ्यों का निरूपण कर रहे हैं। हिन्दी जैसे अभ्युदयशील साहित्य में यह दृष्टि-भेद स्वाभाविक ही है, किन्तु अनेक दृष्टियों से की गई इस युग की आलोचनात्मक उपपत्तियों मे बड़ी हद तक एकतानता भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान सब से पहले जाता है।

आरंभ में इस एकतानता पर ही दृष्टि डालिए। साहित्य की परिभाषा को ही लीजिए। श्री जानकीवल्लभ लिखते हैं—'सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निमल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करनेवाली।' ·· ···'सत्य संपूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता।' ·· 'अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी ही का नाम साहित्य है।'

"साहित्य की इस व्याख्या में हमें वर्तमान युग की आध्यात्मिक चेतना की स्पष्ट झलक मिलती है। यही चेतना रचनात्मक साहित्य में भी व्याप्त हुई और आलोचनात्मक साहित्य में भी। साहित्य की

इस आध्यात्मिक व्याख्या में हम नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब पाते हैं। संक्षेप में, यह व्याख्या साधनमय, आदर्शात्मक, सांस्कृतिक और प्रसरणशील साहित्य की मापरेखा है। इस व्याख्या से साहित्य का स्वरूप-निर्देश भले ही न होता हो, उसकी विशुद्ध प्रकृति का आभास अवश्य मिल जाता है। यह व्याख्या अनिर्दिष्ट भले ही हो, संकीर्ण और असंयत नहीं है।

'संकीर्ण' और 'असंयत' शब्दों से मेरा क्या आशय है, यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आचार्य जानकीवल्लभ की इस व्याख्या के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वह परिभाषा लीजिए जिसमें वे कहते हैं कि जगत् ब्रह्म की (या सत्य की) अभिव्यक्ति है और साहित्य जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति। आचार्य शुक्ल ने सत्य और साहित्य के बीच में जगत् और उसके नाना भावों का मध्यवर्ती तत्त्व ला रक्खा है जब कि जानकीवल्लभ जी साहित्य का सीधा संबंध सत्य या आध्यात्मिक तत्त्व से जोड़ देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकीवल्लभ जी की अपेक्षा आचार्य शुक्ल की व्याख्या संकीर्ण' है।

साहित्य का जगत् से संबंध जोड़ देने के कारण शुक्ल जी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्शों की ओर इतना अधिक झुक गए कि उसके विशुद्ध आध्यात्मिक और भावमूलक स्वरूप का स्वतंत्र आकलन न कर सके। नवीन आलोचना से ही इस कार्य का आरंभ होता हैं, इसलिए स्वभावतः अभी इसका स्वरूप सब लोगों को स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ लोग इस नवीन साहित्ययुग को सौंदर्यवादी और नवीन समीक्षा को कलावादी समीक्षा कहते हैं। केवल सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य अथवा कला के लिए कला का सिद्धान्त आधुनिक साहित्यकों का नहीं है, यह अबतक स्पष्ट हो जाना था।

जानकीवल्लभ जी की उपर्युक्त व्याख्या इसके प्रमाण में उपस्थित की जा सकती है। यह व्याख्या साहित्य में बिना किसी मतवाद का आग्रह किए भी उसके मनोवैज्ञानिक सौष्ठव और परिष्कार का आग्रह

तो करती ही है। स्पष्ट ही यह व्याख्या साहित्य के मानसिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्रधानता देती है और कला के लिए कला का समर्थन नहीं करती। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि यह व्याख्या असंयत नहीं है।

कला के लिए कला और रस की अलौकिकता का सिद्धान्त माननेवाले ही साहित्य की असंयत व्याख्या करते हैं। जानकीवल्लभ जी अथवा नवीन आलोचकों ने ऐसा नहीं किया। रस को अलौकिक वस्तु मान लेने पर साहित्य की एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है जिस पर किसी का प्रतिबंध नहीं रह जाता। क्रमशः जीवन के लिए अल्प महत्व की बातें साहित्य में प्रधानता पा जाती हैं। और उसका ह्रास होने लगता है। यूरोप में कला के लिए कलावाद और भारत में अलौकिक रसवाद, रीतिवाद और जीवननिरपेक्ष साहित्यके निर्माणका कारण बना। नए समीक्षक इस खतरे से खूब परिचित हैं।

यहाँ हम साहित्य की इस आध्यात्मिक व्याख्या के संबंध में उन साहित्यिकों का आक्षेप भी उपस्थित कर देना चाहते हैं जो आध्यात्मिक नाम से ही घबराते हैं और जिन्हें मार्क्स-दर्शन का अनुयायी होने के कारण प्रगतिशील कहलाने का गौरव प्राप्त है। ये लोग साहित्य के मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त यथार्थवादी सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं और सामयिकता की दुहाई देकर साहित्य के नए मापदंड स्थिर करना चाहते हैं। यह कोरी उपयोगितावादी सैद्धान्तिक (dogmatic) और उपदेशात्मक प्रवृत्ति है जो पूर्व युगों में भी उभार खा चुकी है, किन्तु यह साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गई।

हम यह नहीं कहते कि साहित्य में नवीन जीवन का विन्यास नहीं होगा अथवा नवीन प्रेरणाएँ प्रवेश नहीं करेंगी। यदि साहित्य किसी पूर्वपरम्परा में ही बँध जाय तो वह साहित्यिक दृष्टि से भी हेय ही होगा। किन्तु नवीन जीवनधाराओं में निमज्जित होकर भी साहित्य अपना विशिष्ट स्वरूप — अपना मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और

आध्यात्मिक उत्कर्ष कभी नहीं छोड़ सकता।

यहां हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी भारतीय साहित्यिक वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, कबीर और जायसी, अथवा किसी भी विशिष्ट कवि की अवहेलना यह कह कर नहीं कर सकता कि वे सामंतवादी या राजसत्तावादी युग के प्रतिनिधि थे और वह युग अब बीत गया है। वास्तव में सभी महान् कवि उच्चतम भावों और संस्कृति के प्रतिनिधि होते हैं, किसी विशेष वाद के नहीं। सामाजिक जीवन में नए परिवर्तन होने पर भी महान् कवियों की भाव और कला-विभूति अपना आकर्षण नहीं खोती। वह स्थायी साहित्य और संस्कृति का अंग बन जाती है।

अस्तु, जानकीवल्लभ जी की उपर्युक्त व्याख्या स्थायी साहित्य का स्वरूपनिर्देश करती है, वह साहित्य और जीवन के विकास पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। नित्य नवीन भावधाराओं को ग्रहण करने मे वह पश्चात्पद नहीं है। यदि वह पश्चात्पद है तो केवल ओछी, उत्तेजनापूर्ण, अश्लील अथवा कोरी उपदेशात्मक कृतियों को, जो स्पष्टत. असाहित्यिक हैं, साहित्यक स्वीकार करने में पश्चात्पद है। साहित्य के उच्चतर मनोवैज्ञानिक, कलात्मक और आध्यात्मिक स्वरूप की रक्षा यदि अपराध हो तो निश्चय ही जानकीवल्लभ तथा नवीन समीक्षक अपराधी है। यदि नहीं, तो नहीं।

इससे अधिक उदार साहित्य की व्याख्या क्या हो सकती है? अपनी उदारता के कारण ही यह व्याख्या पूर्णतः स्वरूप-निर्देशात्मक भी नहीं बन सकी। यह केवल इंगित का काम देती है, बड़ी हदतक अनिर्दिष्ट भी है। इसमे साहित्य के उन तत्त्वों का निर्देश भी नहीं किया गया जो उसकी सीमा के विधायक है और जिनके विना साहित्य अपनी संज्ञा ही नहीं प्राप्त करता। यह एक प्रकार की त्रुटि भी है, किन्तु इसका कारण ऊपर बताया जा चुका है। इस त्रुटि की पूर्ति भी लेखक ने अपनी तुलनात्मक और व्यावहारिक समीक्षाओं मे अच्छी तरह कर दी है। अब हम उन्हीं की ओर आगे बढ़ते है।

आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि नवीन आलोचना अभी पूर्णत शास्त्रीय स्वरूप नहीं धारण कर सकी है, अबतक उसकी कुछ प्रवृत्तिय ही प्रत्यक्ष हुई हैं। इन प्रवृत्तियों के ही आधार पर हमें नवीन समीक्षा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। ऊपर मैंने इसके मूलभूत मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्वरूप का उल्लेख किया है। अब यहां हमें उन सूत्रों की ओर दृष्टिपात करना होगा जिनके आधार पर समीक्षा का यह स्वरूप प्रतिष्ठित हो सका है। संक्षेप में हम नई समीक्षा के साध्य को देख चुके, अब साधनों की ओर दृष्टि डालनी होगी।

सबसे पहले यह बात दिखाई देती है कि नवीन समीक्षा रस और अलङ्कार की शैली को छोड़ स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण कर चली है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यद्यपि इस प्राचीन समीक्षा-परम्परा का यथेष्ट परिष्कार भी कर गए और उसकी संभावनाओं का उज्वल चित्र भी दिखा गए, किन्तु नवीन समीक्षकों ने इसका अधिक उपयोग नहीं किया। इसका कारण यह नहीं था कि नवीन समीक्षक इस परम्परा से अपरिचित थे किन्तु स्वच्छन्द अनुभूति प्रवाह और अभिव्यक्ति-सौष्ठव के प्रत्ययों में रस और अलङ्कार परम्परा के वाह्य वर्गीकरणों को भूल ही गए। उनका ध्यान सांस्कृतिक मनोभावनाओं और उनकी मनोरम अभिव्यक्तियों ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि उसके स्थूल स्वरूप-निर्देश को वे अधिक महत्व न दे सके। किन्तु इतना निश्चय है कि साहित्य के कल्पना-पक्ष, उसकी अनुभूति और कलाविशिष्टता को परखने में यह युग पिछले सभी युगों से आगे बढ़ गया।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि वह नवयुग भारत में अभूत-पूर्व राजनीतिक और सामूहिक जागृति का था। गांधी जी के सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन ने एक अनोखी आशावादिता और उत्साह का वातावरण उपस्थित कर दिया था। उनकी आध्यात्मिक प्रेरणाओं के फलस्वरूप देश में जो अनुपम जागृति फैली उससे न केवल साहित्य में नवीन भावोद्रेक की धारा फैली, नयी आध्यात्मिक चेतना भी मिली

और रचनाओं में नया सांस्कृतिक प्रकाश आया।

इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलंकारों का आधिक्य नहीं था। नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। भावनाओं में एक अनुपम आध्यात्मिक ज्योति थी। इन्हीं की ओर स्वभावतः समीक्षकों का भी ध्यान गया।

विषय नवीन भी थे और प्राचीन भी; किन्तु भावना सब में एक सी ही सौम्य, सूक्ष्म और आदर्शोन्मुख थी। पुनरुत्थान (अतीतोत्थान या Romantic) आन्दोलन की प्रकृति के अनुसार यह नया साहित्य प्राचीन दर्शन, इतिहास और पुराण के क्षेत्रों में भी पहुँचा और उनकी बहुत-सी सामग्री नवीन उपयोग में लाया। संस्कृत भाषा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवियों और लेखकों ने उसकी विशिष्टताएँ भी अपनी रचनाओं में ग्रहण कीं। इसी कारण इस काल की भाषा में संस्कृत का प्राचुर्य है। भाषा की लाक्षणिकता और अभिव्यक्ति की प्रतीक प्रधान शैली इस युग की अपनी विशेषता रही है। यह नवीन अलंकरण या चित्रग'शैली कुछ कम ध्यान देने योग्य नहीं।

कवियों ने नवीन शिक्षा-दीक्षा भी ग्रहण की थी। अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्तियों और प्रयोगों का भी अच्छा प्रभाव देख पड़ा। लेखकों की ग्राहिका-बुद्धि ने और उनकी नव सांस्कृतिक रुचि ने अभिव्यजना को पाश्चात्य शैली से भी सज्जित करने की चेष्टा की। जितने नए शब्द और प्रयोग संस्कृत और अंग्रेजी से इस युग में गृहीत और निर्मित हुए उतने इसके पूर्ववर्ती किसी युग में कदाचित् ही हुए है। भाषा की समृद्धिशीलता भी साहित्य की ही समृद्धिशीलता है।

गद्य और पद्य दोनों में नए स्वरों का संधान और नई शैलियों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। लेखकों की शैलियाँ भी क्रमशः समुन्नत होती गई हैं।

कुछ कवि अन्यों की अपेक्षा अधिक भावुक और तन्मात्रा प्रधान (sensuous) हुए हैं, उदाहरण के लिए चंडीप्रसाद 'हृदयेश' या स्वयं प्रसाद जी। कुछ अन्य कवि अधिक सजग कौशल, पांडित्य और

तटस्थता लिए हुए हैं, उदाहरण के लिए निराला जी; कुछ अन्य कवि उत्कृष्ट कल्पना-प्रतिभा लेकर आए, जैसे पन्त जी; कुछ अन्य करुणा का आध्यात्मिक सौष्ठव लेकर चले, जैसे महादेवी जी; इसी प्रकार विभिन्न कवियों की विभिन्न व्यक्तिगत विशेषताएँ होते हुए भी इनकी युगगत प्रेरणाओं में बड़ी हद तक साम्य भी रहा है।

साम्य और वैषम्य के इन सूत्रों को सुलझाने में नई समीक्षा को पर्याप्त समय लगाना पड़ा। पूर्ववर्ती साहित्यिक निर्णयों और विवेचनों का विरोध भी करना पड़ा, नई स्थापनाएँ भी करनी पड़ीं। द्विवेदी जी से आरम्भ होनेवाले नवीन साहित्य का नया विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया। प्रबन्ध और मुक्तक की काव्यपरिपाटियों पर भी बड़ा विवाद रहा। प्रगीत की नई परिपाटी हिन्दी में आई। निराला जी के नवाविष्कृत मुक्त छन्द पर भी बड़ी चखचख हुई। इन व्यस्तताओं के कारण नई समीक्षा विस्तृत साहित्यिक विवेचनों में अबतक नहीं जा सकी। अब वह उस ओर झुक रहा है।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि नए समीक्षक सामयिक साहित्य की समीक्षा तक ही सीमित हैं। उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी अध्ययन, अनुसन्धान किया है तथा साहित्य-सिद्धान्तों पर भी निबन्ध और पुस्तकें लिखी हैं। यह कार्य भविष्य में और भी अग्रसर होगा। पुराने कवियों में सूर, तुलसी, कबीर, मीरा और विद्यापति आदि नए समीक्षकों को अधिक आकृष्ट कर सके हैं क्योंकि वे भाव-प्रधान और आध्यात्मिक कवि हैं। नए समीक्षकों की रुचि भी उनके अनुकूल है। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि इस क्षेत्र में भी नवीन समीक्षा ने बहुत कुछ नया कार्य किया है।

जहां एक ओर नए समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम-प्रगीतों को प्रबन्ध मूलक रचनाओं और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की है, वहां दूसरी ओर भक्ति के नाम पर रचित भाव-रहित, शुष्क या अति श्रृंगारी काव्य को भी अलग कर दिया है। काव्य की परीक्षा काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक आधारों पर की गई है।

साथ ही नए समीक्षकों ने भक्ति की पुरानी, अतिवादी अथवा असांस्कृतिक प्रतिपत्तियों को भी पहचाना और उनसे दूर रहे। शबरी, सुदामा, विदुर, द्रौपदी आदि के आख्यानों में भक्ति की अनन्यता के प्रदर्शन के लिए दूसरे पक्ष को जो अत्यधिक विपन्नता और विवशता दी गई है अथवा स्थान-स्थान पर उनके आत्मविस्मरण का जो दृश्य दिखाया गया है, नवीन समीक्षक उसके समर्थन तक नहीं गए। गोपिकाओं की मानलीला में निहित रहस्यवाद की असामाजिकता का उन्होंने निर्देश किया। किन्तु जहां विशुद्ध और भावमय प्रेम के चित्रण हैं वहां केवल नीति और ऐकान्तिकता के नाम पर उनका विरोध नहीं किया गया। न उन चित्रणों को अनीतिवादी बताया गया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'सूर' और 'तुलसी' पर इसी आशय के अनेक निबन्ध लिखे है जो सामयिक पत्रिकाओं और संग्रहों में आ चुके हैं और अब पुस्तकाकार छप रहे हैं। कबीर पर भी नई दृष्टि से लेख और पुस्तकें लिखी जा चुकी है। जानकीवल्लभ शास्त्री जी ने प्रस्तुत पुस्तक में 'जयदेव और विद्यापति' पर एक सुन्दर तुलनात्मक लेख लिखा है जिसमे साहित्य की भावात्मक परीक्षा की परिपाटी ग्रहण की है। जानकीवल्लभ जी के निर्देशों को ध्यानपूर्वक देखने पर प्रकट होता है कि जयदेव और विद्यापति दोनों ही भाव-प्रधान कवि थे, कोई शृङ्गारी नहीं, जैसा कि कतिपय पूर्ववर्ती समीक्षक कहा करते थे।

इस प्रकार क्रमशः नई समालोचना नए साहित्यिक तथ्यों पर प्रकाश डाल रही है। वह केवल प्रभाववादी नहीं है, विश्लेषण-प्रधान और सैद्धान्तिक भी है। कोरी प्रभाववादी आलोचना सैद्धान्तिक नहीं हो सकती। विश्लेषण केवल भावों या काव्य के अन्तरंगों (कल्पना आदि) का ही नहीं किया गया है, काव्य के वस्तु संघटन और रचना कौशल आदि (technique) का भी किया गया है। जानकीवल्लभ जी ने 'रवीन्द्रनाथ की उपेक्षिता' शीर्षक लेख में काव्य के इसी बाह्य

स्वरूप की मीमांसा की है। मैंने भी अपने 'साकेत' शीर्षक लेख में 'टेकनीक' का प्रश्न उठाया है।

संक्षेप में यही कार्य है जो नवीन समीक्षा ने किया है और अब भी करती जा रही है। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही समयों के लेखक इस समीक्षा का पृथक्-पृथक् कारणों से विरोध कर रहे हैं। किन्तु अब यह समीक्षा अपनी शैली और अपने मापदण्डों का बहुत कुछ निर्माण कर चुकी है और अपने भविष्य के सम्बन्ध में विश्वस्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकीवल्लभ जैसे संस्कृत साहित्य के अभ्युदयशील विद्वान आचार्य ने नई समीक्षा का पक्ष ग्रहण कर केवल उसकी श्रीवृद्धि ही नहीं की, 'पण्डितों' के प्रहारों से उसकी रक्षा भी कर ली है। इसके लिए नया साहित्य उनका कृतज्ञ रहेगा।

यह तो नहीं कह सकता कि मैं शास्त्री जी की सभी स्थापनाओं और उपपत्तियों से सहमत हूँ (कदाचित् ऐसा कहना नवीन साहित्य की स्वच्छन्दता का तिरस्कार करना होगा) किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि जहाँ कहीं मेरी व्यक्तिगत सम्मति भिन्न भी है वहाँ भी शास्त्री जी के सुसंगत विचारों का मैं सच्चे हृदय से सम्मान करता हूँ

प्रसन्नता यह देखकर होती है कि जानकीवल्लभ जी चार सौ से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक में बड़ी स्फूर्तिदायक शैली से नवीन साहित्यिक तथ्यों का निरूपण और नए विवेचन द्वारा उसकी पुष्टि करते चले गए हैं।

मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता जानकीवल्लभ जी का 'निराला की काव्यकला' प्रबंध पढ़कर हुई, जो इस पुस्तक का अंतिम अंश है। इसे पढ़ लेने के पश्चात् मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है कि नवीन समीक्षा में और जो कुछ कमी हो, पांडित्य की कमी नहीं है जिसकी शिकायत समय-असमय सदैव होती रही है। मैं निराला जी की 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक रचनाओं को उनके पांडित्य की प्रदर्शक अवश्य मानता रहा हूँ और उनकी ओजस्विता तथा प्रशस्त

वर्णना का कायल भी हूं किन्तु मैं इन दोनों को उनकी श्रेष्ठतम रचना नहीं मानता था। काव्य की दृष्टि से 'स्मृति' 'सन्ध्या सुन्दरी' 'तरंगों के प्रति' 'सरोज-स्मृति' •'तुम और मैं' 'यमुना' 'जूही की कली' आदि अधिक सहज सौन्दर्यसम्पन्न कृतियाँ प्रतीत होती थीं। किन्तु जानकी वल्लभ जी ने उपर्युक्त दोनों रचनाओं का वैशिष्ट्य दिखाकर मुझमें एक नया ही विचारोत्तेजन उत्पन्न कर दिया है। औरों पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

जानकीवल्लभ जी की शैली में आत्मविश्वास की यथेष्ट मात्रा है। इसलिए उनके निबन्धों में प्रभावोत्पादकता और स्फूर्ति भी असाधारण है। पांडित्य का प्रचुर संयोग होते हुए भी उनकी शैली में युवकोचित प्रवाह है और भारग्रस्तता का नाम भी नहीं।

मैं समीक्षा क्षेत्र की इस नवीन कृति का स्वागत करता हूँ। मुझे यह स्वीकार करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है कि यह नवीन समीक्षासाहित्य में प्रथम श्रेणी की रचना है और इससे नई समीक्षा को नया बल प्राप्त होगा। जानकीवल्लभ शास्त्री जी से नवीन हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। उसकी पूर्ति के प्रमाण भी उनकी रचनाओं द्वारा उपस्थित होते जा रहे हैं।

मैं पुनः इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करता हूं।

(प्रथम संस्करण की भूमिका)
६ – २ –'४३ } —नन्ददुलारे वाजपेयी

एक दृष्टि

प्रस्तुत पुस्तक में बाईस आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है जिनमें काव्य, साहित्य और आलोचना के सैद्धान्तिक विवेचन के सिवा हिन्दी एवं विश्वसाहित्य की कितनी ही सर्वमान्य कृतियों तथा अंगों पर विचार किया गया है। आलोचना की प्रणाली विद्वत्ता के साथ साथ सहृदयता से भी ओतप्रोत है तथा यह पूरी पुस्तक आलोचना की उस पद्धति का ज्वलन्त उदाहरण है जिसका निर्वाह केवल कवि-आलोचक ही कर सकता है।

आरम्भ के आठ निबन्धों में साहित्य के स्वरूप तथा उसकी कला एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में विचार किया गया है। नवें निबन्ध में हिन्दी कविता की आलोचना का संक्षिप्त इतिहास वर्णित है। उसके बाद कोई बारह-तेरह निबन्धों में साहित्य की कृतियों पर उस दृष्टि-कोण से विचार किया गया है जिसकी स्थापना आदि के आठ निबन्धों में की गई है। इस प्रकार इसके सभी निबन्ध प्रायः परस्पर- सम्बद्ध हैं तथा लेखक के साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने के लिए उनमें से प्रत्येक का अपना अलग-अलग महत्त्व है।

हिन्दी के आलोचना साहित्य में सबसे अधिक सरसता स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में मिलती थी जिसका प्रधान कारण शर्मा जी की भाषा-सम्बन्धी विलक्षणताएँ थीं। उस समय तक अँगरेजी की आलोचना-पद्धति का प्रभाव हिन्दी पर बहुत कम पड़ा था। अतएव साहित्य के मुख्य उद्देश्य की व्याख्या आलोचक कम कर पाते थे। तब आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रवेश हुआ जिनकी शैली में भारतवर्ष की शास्त्रीय पद्धति के साथ-साथ अँगरेजी की शैली भी मिली हुई थी। शुक्ल जी के आलोचना-त्मक निबन्धों में हम शास्त्रीयता के ठोस धरातल पर ज्ञान का चमत्कार

देखते हैं। हृदय का योग उनके निबन्धों में भी पर्याप्त नहीं है। उनके आदर्श पर चलकर जिन विद्वानों ने अपना स्वतन्त्र विकास किया उनमें श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' एवं पण्डित नन्ददुलारे जी वाजपेयी प्रधान हैं। सुधांशु जी आलोचना-सम्बन्धी विद्या एवं नियमों के भाण्डार हैं, किन्तु वह भी जब किसी काव्य की परीक्षा करने लगते हैं तब आलोच्य कवि की भावनाओं के साथ तादात्म्य का बोध नहीं करते, जानबूझ कर तटस्थ रह जाते हैं, मानो वह इस आशंका से ग्रस्त हों कि आलोच्य कवि से तटस्थ न रह सकना उसके समक्ष अपनी पराजय स्वीकार कर लेना है।

वाजपेयी जी का भी बहुत-कुछ यही हाल है, यद्यपि दो एक ऐसे सौभाग्यशाली कवि अवश्य हैं, जिनके सम्बन्ध में वह तटस्थ नहीं रह सकते। इस विषय में पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी एक ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने आलोच्य कवि से कभी अपने को तटस्थ नहीं रखा। किन्तु आलोचना-सम्बन्धी उनकी क्षमताएँ अत्यन्त सीमित हैं तथा आलोच्य कवि की प्रशंसा वह चाहे जितनी कर लें, विद्वान पाठकों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। सब मिलाकर, पण्डित हजारीप्रसाद जी द्विवेदी एक ऐसे लेखक हैं जिनके निबन्धों में, प्रायः सर्वत्र ही, मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय पूरी मात्रा में मिलता है तथा जिनके निबन्धों को पढ़ कर पाठक उस आनन्द को प्राप्त कर सकता है जो उसे केवल अपनी विद्या-बुद्धि के सहारे नहीं मिल सकता।

जानकीवल्लभ जी, उपर्युक्त सभी आलोचकों से भिन्न हैं, किन्तु जहाँ तक हृदय और मस्तिष्क के सन्तुलित योग का प्रश्न है, वह किसी से भी कम नहीं है, प्रत्युत यह कहना चाहिए कि उनके निबन्धों में आलोच्य कवि की कला अथवा कौशल का जैसा रहस्य खुलता है, वैसा चमत्कारपूर्ण रहस्योद्घाटन हिन्दी की आलोचनाओं में कम ही हो पाता है।

कविता की आलोचना भी, कविता की ही तरह, विज्ञान न

होकर शुद्ध साहित्य है तथा किसी भी गुरु के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने शिष्यों में काव्यालोचन की शक्तियाँ मनमाने ढंग से भर दे। जो सीखी अथवा सिखलाई जाती है वह कविता की आलोचना नहीं, उसपर सम्मति देने की परिपाटी है और साहित्य से अब उसका आदर उठता जा रहा है। कविता रचने और उसका आनन्द उठाने की शक्तियाँ परस्पर भिन्न-गुण हैं; मगर किसी समय उनका जन्म एक ही बिन्दु से हुआ होगा। कवि का सच्चा आलोचक वही हो सकता है जिसमें काव्यानन्द के उपभोग की पूरी क्षमता हो, जो कवि की उस मनोदशा में प्रवेश पा सके जिसमें रहकर उसने आलोच्य कविता की रचना की है। सच्ची आलोचना केवल नीर-क्षीर की विवेचना नहीं, प्रत्युत उन समग्र कौशलों का विश्लेषण है जिनके द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। साहित्य में आलोचना की आवश्यकता इसलिए नहीं होती कि लोग आलोच्य कवि पर किसी विद्वान की सम्मति जानना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि वे किसी रचना-विशेष में से वह आनन्द प्राप्त करना चाहते है जिसे वे स्वयं नही पा सकते। जहाँ आलोचना के जरिए पाठकों के आनन्द में वृद्धि नहीं होती, वहां आलोचक का प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है।

जानकीवल्लभ जी की शैली कवि की शैली है तथा वह प्रधानतः उसी कवि पर कलम उठाते है जिसकी रचना ने उन्हें आनन्द दिया है एवं अपने निबंधों के जरिये वह उसी आनन्द को पाठकों के निमित्त सुलभ बनाने की कोशिश करते हैं। इस क्रिया में वह एक कवि की तुलना दूसरे कवि से भी करते हैं, किन्तु यह इसलिए नहीं कि उन्हें एक को ऊँचा उठाना अथवा दूसरे को नीचे गिराना अभीष्ट है प्रत्युत इसलिए कि एक ही भाव की दो प्रकार की अभिव्यक्तियों के देखने से भी पाठक के आनन्द की वृद्धि होती है।

* उन्होंने कहीं-कहीं एक कवि को छोटा तथा दूसरे को बड़ा भी कहा है; किन्तु इसका उद्देश्य प्रधानतः किसी कौशल-विशेष के सफल अथवा असफल प्रयोग का प्रदर्शन रहा है। आलोच्य कवि के साथ

उन्होंने पूरा तादात्म्य स्थापित किया है तथा उसकी कितनी ही सूक्ष्म शक्तियों का रहस्य खोलकर काव्यगत चमत्कार के असली कारणों का पता लगाया है। विशेषतः 'निराला की काव्यकला' नामक निबन्ध में उन्होंने अनुपम चमत्कार दिखलाया है तथा निराला जी के कितने ही पदों का विश्लेषण करके पाठकों के सामने यह प्रत्यक्ष किया है कि निराला जी कितने बड़े शब्दशिल्पी और कलाकार हैं। इस निबन्ध को पढ़कर तो सहसा मुख से यही निकलता है कि धन्य है वह कवि जिसे जानकीवल्लभ के समान आलोचक मिला है।

इस पुस्तक के सभी निबन्धों की भाषा सुबोध एवं अभिव्यक्तियाँ प्रबल है। एक-एक वाक्य अपनी जगह पर कसा हुआ एवं समर्थ है। उसके भीतर से एक ओर जहाँ विद्वत्ता का आलोक निस्सृत होता हैं, वहाँ वाक्यों की गठन से हिन्दी के पल-पल विकास शील गद्य की भी शक्तियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। क्या भाषा और क्या भाव, सब दृष्टियों से, इसका पृष्ठ-पृष्ठ अद्भुत चमत्कार से युक्त है। कोई भी निबन्ध ऐसा नहीं है जिसे लेखक ने पूरी प्रसन्नता के अभाव में लिखा हो। आलोचना का ग्रन्थ होने पर भी इसमें कहीं अस्पष्टता, दुरूहता या भारग्रस्तता का बोध नहीं होता। इसकी पंक्ति-पंक्ति अद्भुत कारीगरी से युक्त तथा कवि आलोचक के हृदय रस से लबालब है।

हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी में आलोचना के विषय पर इसके समान सारवान् और सरस ग्रन्थ अधिक नहीं हैं।

यद्यपि काव्य के सम्बन्ध में चर्चाएँ सभी तरह के लोग किया करते हैं; किन्तु काव्य की उच्चतम कोटि की आलोचनाएँ केवल

उन्हीं लोगों ने लिखी हैं जो स्वयं कवि थे। कालरिज, और स्विनबर्न, आर्नल्ड और ईलियट के सिवा, भारतवर्ष में भी, रवि बाबू ने साहित्य के सम्बन्ध में जो आलोचनाएँ लिखीं, उनके जोड़ की आलोचना इतर लेखकों से लिखी न जा सकी। अब जानकीवल्लभ जी ने भी इसी सरणि में अपना नाम अङ्कित कर दिया है।

प्रथम संस्करण की
२००३ हिमालय' में
प्रकाशित समीक्षा } —'दिनकर'

साहित्य

सत्य यदि मौन है तो वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है तो वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करने वाली।

न मै सर्व-शक्ति-शाली सत्य को 'मूक' कह रहा हूँ, और न संस्कृत-परिष्कृत वरेण्य वाणी को 'वावदूक',—वृथा प्रलापिनी। मेरा अभिप्राय यही है कि सत्य सर्वतः परिपूर्ण, परम प्रशान्त है, उसे कुछ भी नहीं कहना, इसलिए वह शब्द, वर्ण एवं वाणी से परे है, नीरव है, मौन है।

सत्य चिर-स्थिर, प्रकृति से मौन है, यह वहाँ अधिक स्पष्ट हो गया है, जहाॅ सत्य ही के साथ-साथ आकाश को भी ब्रह्म बताया गया है। आकाश मे आकर सब शब्द सो जाते हैं; वाणी पूर्ण विश्राम ग्रहण कर लेती है।

पर जिस प्रकार नित्य आत्मा की स्फूर्ति के लिए अनित्य शरीर की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी प्रकार नीरव सत्य की सत्ता को व्यक्त करने के लिए मुखर वाणी की महत्ता भी माननी ही पड़ती है। क्योंकि रूप का आश्रय ग्रहण किए विना आत्मा पृथक् से प्रतिभासित नहीं हो सकती, ❀ और वाणी के विना सत्य का स्पष्टीकरण भी असम्भव है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'अधिक से अधिक सत्य' को व्यक्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत लिपिबद्ध वाणी का नाम ही साहित्य है।

❀ स ईक्षां चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति। स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।

सत्य स्वयं नीरव है। जब हम उसे वाणी का रूप देना, वर्णों में व्यञ्जित करना चाहते हैं, हमें तत्क्षण भाँति-भाँति की चेष्टाओं, ऊँची-नीची बहुविध कल्पनाओं का अवलम्बन करना पड़ता है। और तब मेल-मिलाप हो चुकने पर वह विशुद्ध स्वरूप से कभी भी प्रकट नहीं हो पाता। अतएव विश्व-साहित्य के अखिल-निखिल निर्माताओं—ऋषि-महर्षियों से लेकर अति आधुनिकों तक की उक्ति-प्रत्युक्तियाँ 'केवल सत्य' ही नहीं है। सत्य को सम्पूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। * कल्पना करें कि सूर्य्य सत्य है। पर सूर्य्य अपने सम्पूर्ण स्वरूप से कभी भी नहीं दिखलाई पड़ता। हाँ, यह ठीक है कि उसका जितना भी अंश दीख पड़ता है, उसे हम सूर्य्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। उसी प्रकार उदात्त तथा अलंकृत वाणी (साहित्य) के भीतर से जिस सत्य की बाँकी झाँकी हमें मिलती है, वह सम्पूर्ण न होने पर भी सत्य से पृथक् और कुछ नहीं। इसलिये उसे 'अधिक से अधिक सत्य' कहना उचित होगा। उसे मिथ्या तो किसी भी प्रकार नहीं कह सकते।

हम अपनी स्वाभाविक दृष्टि से सूर्य्य को जिस आकार-प्रकार में देखते है, यह तो सभी जानते हैं कि उसका दिखलाई पड़ने वाला अंश भी उससे बहुत बड़ा है। पर अपनी संयत दृष्टि-शक्ति के कारण अक्षम हो हम उसके वृहत् स्वरूप की कल्पना ही कर रह जाते है। वैज्ञानिक ग्रह-वेध-यन्त्र (Astronomical Teliscope) की सहायता से हमारी अपेक्षा उसे अधिक बड़े रूप में देख कर, उससे भी अधिक विराट

*** मानसिक वेदना को शब्दों में प्रकट करने के दुःसाहस को एक अनुभूतिशील-हृदय ने पाप कह कर सत्य के सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो सकने की कितनी मार्मिक व्याख्या की है।**

I sometimes hold it half a sin
To put in words the grief I feel
For words, like nature, half reveal
And half conceal the truth within.

स्वरूप की कल्पना करता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि हम अपनी शक्ति भर 'सत्य-सूर्य्य' को देखने का ही प्रयत्न करते हैं। जहाँ तक हमारी दृष्टि-शक्ति सहायता देती है, Teliscope का Magnifying power जितनी दूर तक प्रसार प्राप्त करता है, हम सत्य-सूर्य्य को उतनी ही दूर तक, उसी अनुपात से, छोटा या बड़ा देखते है। यह ऐसा छोटा या बड़ा देखना 'मिथ्या-दर्शन' नहीं हो सकता। यह हमारा 'अधिक से अधिक सत्य' देखना ही कहा जा सकता है।

सत्य एक है। कल्पना-जल्पनाओं की अनेकता के कारण उन्हीं के माध्यम से प्रकाश पाने वाला वह एक ही अनेक प्रतीत होता है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' ऐसी प्रतीति आपाततः होती है। यह हमारी सहज प्रकृति है कि हम सत्य को छोटा नहीं मान सकते। उसे महान् से भी महीयान् देखना चाहते है; देखने का उद्यम करते है। जैसा कि मै ऊपर लिख चुका हू, जब हमारी दृष्टि या यन्त्र की नियमित शक्ति जवाब दे देती है, हम कल्पना द्वारा उसके अधूरेपन की दरारें भर लेते है। हमारी कल्पना-शक्ति जितनी ही तीव्र या उग्र होगी, हम उससे उतनी ही तृप्ति प्राप्त कर सकेंगे। विभिन्न मस्तिष्क की विभिन्न कल्पनाओं के कारण, साहित्य मे या सर्वत्र ही विभिन्नता विविधता दृष्टिगत होती है। निश्चय ही कल्पनाओं के मिश्रण से सत्य का विशुद्ध स्वरूप कभी नहीं व्यक्त हो पाता पर उसकी विशुद्ध अभिव्यक्ति के लिए दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। सत्य एक है, पर अभिव्यक्ति एक ही प्रकार की नहीं हो सकती। एक वसंत मे एक ही कली नहीं चटक सकती। एक आकाश में एक ही तारा नहीं टिमटिमा सकता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि विविध भाव-भङ्गियो, कल्पना-जल्पनाओ द्वारा एक ही सत्य की अभिव्यक्ति का उद्योग अनवरत चल रहा है। "विज्ञानमेकं निज-कर्म-भेद-विभिन्न-चित्तै र्बहुधाऽभ्युपेतम्।" विविध वाणियो में स्फुट सत्य-प्रकाशन का यही उदात्त उद्वेग साहित्य है।

सत्य ही ज्ञान है। सत्य ही आनन्द है। सत्य, ज्ञान या आनन्द की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। जब-जब हमें सत्यान्वेषण की आकाङ्क्षा,

ज्ञानार्जन की कामना, या आनन्द-लाभ की लालसा होगी, तभी-तभी हमारे सामने चाँदनी से धुले, खुले छाया-पथ, वीचि-रहित ज्योतिः—समुद्र या सलील-सलिल रस-सरोवर के रूप में साहित्य समुपस्थित होगा। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि साहित्य का माध्यम ग्रहण किए विना सत्य, ज्ञान या आनन्द का साधारणीकरण नहीं हो सकता।

एक बात और। जैसे लाल-गुलाबी कोंपलों, हरित-पीत बौरों के सौन्दर्यभार से झुकी, कोयल की कूक, भौंरों के मञ्जु गुञ्जन से सिहरी अमराइयों में वसन्त-प्रकृति की छाया-छवि के दर्शन होते हैं; और जैसे 'धूम-धुआँरे काजर-कारे' मँड़राते बादलोंवाले आसमान से रिमझिम-रिमझिम बरसती नन्हीं-नन्हीं बूँदों में सरस पावस का परस पाते हैं, उसी प्रकार हमें साहित्य ही के भीतर से सत्य, ज्ञान या आनन्द की अनायास उपलब्धि होती है। वसन्त को कोई नहीं देखता, पावस को भी नहीं, अर्थात् वह नहीं देखा जा सकता। वह अरूप है; अमूर्त्त है। लहलहाती हुई अमराइयों, या मिट्टी पर मोती बिखेरती फुहियों को देख कर ही हमें सुख-सन्तोष की साँस लेनी पड़ेगी। क्योंकि इनसे बढ़ कर रूपहीन वसन्त या पावस के अनुरूप और किसी भी सुन्दर स्वरूप की सम्भावना नहीं। अरूप सत्य, ज्ञान या आनन्द के अनुरूप निर्मित रूप ही का नाम साहित्य है।

'साहित्य' शब्द अपने आपमें इतना अधिक पूर्ण है कि किसी भी दूसरे शब्द या वाक्य-विस्तार द्वारा हम उसके सम्पूर्ण अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकते। साहित्य अर्थात् चिर-परिपूर्णता, राहित्य (अभाव) का राहित्य (अभाव) मात्र नहीं। इस ऐसे 'पूर्ण' को दूसरे-दूसरे अपूर्ण वर्ण कैसे व्यक्त कर सकते हैं?

साहित्य आत्म तृप्ति का उद्दाम उच्छ्वास है। जिसे पाकर हम झूमझूम जाते, मस्ती की अलस अँगड़ाइयाँ लेने लगते हैं, कैसे विश्वास हो, उससे और किसी का कुछ भी न होगा? हमने तो अपने संकुचित स्वार्थ का साथ नहीं किया, फिर हमारी तृप्ति हमारी ही सीमा में सिमट कर क्यों रह जाय? लोक—मङ्गल की ऐसी ही भव्य भावना से भर कर

साहित्यकार आत्म-सुधा को साफ-सुथरी बोली की रुपहली-सुनहली प्यालियों में ढाल देता, उँड़ेल देता है।

जिसे हमने बहुत दिनों बाद जाना, पहचाना, जिसे हमने अपने को खोकर पाया, उसे विश्व से क्यों न परिचित करा दें? उसे प्यासे संसार को क्यों न सौंप दें? हम अपने स्वर को क्यों न विश्व-सङ्गीत से मिला दें? क्या परिचय या प्राप्ति ही के समान अर्पण या त्याग में तृप्ति नहीं?

इतना तो हमीं ने पहचाना है, इसे तो हमीं ने पाया है, तुम इसे अनायास देख सकते हो, देख लो, ले लो, फिर आगे बढ़ो, बढ़ते जाओ, अभी तो बहुत दूर जाना है, तुम भी यहीं, इसी के आस-पास, भटकते मत रह जाओ; हम तुम्हारे लिए इतनी सुविधा, इतना अवसर देकर ही तृप्त हो सकेंगे, और सब से बढ़ कर सच तो यह कि इस अपनी पहचान को, अपनी प्राप्ति को, हम अपने ही साथ नहीं ले जा सकते, यह तुम्हारी है, इसे हमने तुम्हारे ही लिए ढूँढ़ा है,—आत्म-तृप्ति का यह ऐसा स्वाभाविक उच्छ्वास ही साहित्य है।

साहित्य एक अनुभूति है। विशाल विश्व से हिलमिल कर जो कुछ समझा, प्रकृति की सजीव श्री-सुषमा को अन्तःस्तिमित नेत्रों से जैसा देखा, उसी की एक-एक रश्मि-रेखा साहित्य के स्वच्छ पृष्ठों पर अङ्कित है।

विश्व-वीणा के तारों में बँधी हुई मुक्त झंकारें हमारे सूने-सूने, सोए-सोए कर्ण-कुहरों को भर चुकीं; उछलती-पिछलती, झिलकती-ढुलकती सातों सुरों की रिमझिम हमारे धूसर-धूमिल, चिर-मरु प्राणों को पोंछ गई, सींच गई। हमने सत्य को हँस-हँस कर उज्ज्वल प्रकाश में देखा, सौन्दर्य्य को सिहर-सिहर कर छुआ।

हमने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन के तरङ्गाघातों से आकुल-व्याकुल, तीखी धार की चौड़ी छाती चीर कर बहती, किनारे पहुँची, मझधार में चक्कर काटती, जीवन की राशि-राशि तरियाँ अपनी आँखों देखीं; खुल-खुल कर खुली धूप की आँच सही; छुप-छुप कर छुई-मुई-सी

छहियाँ छुईं; हम कोरी कहानी नहीं कह रहे, यह तो हमारी आपबीती है ।

पहले हम भी अपनी ही परिछाई से घिर कर खड़े थे, डर रहे थे। वाह्य विश्व-प्रकृति से हमारा कोई अपना—रागात्मक सम्बन्ध न था। हमें अपनापन और स्वार्थ-सङ्कोच में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं मालूम पड़ता था। हम स्वप्न तो देखते थे, पर केवल जड़ता के, अन्धकार के। आकाश में पूनों का चाँद तब भी उगता था, पर हममें चाँदनी की चारुता का पान करने की, चकोर की जैसी, क्षमता न थी। हम जीवित थे पर सजीव नहीं; जगे थे लेकिन सजग नहीं। अकस्मात् एक दिन स्वर्ण-किरण के एक हल्के से झिटके ने आगे के कुहरे का पर्दा हटा दिया। एक अपूर्व अज्ञात ज्योति जाने कैसे हमारे शरीर की तन्द्रा मेटती, प्राणों को पुलकित करती पास पहुँची। ❀

हमने अपने को पहली बार आरपार देखा, सिर से पैर तक पहचाना और तभी तुम्हें-समग्र विश्व को भी पहचान लिया। सचमुच ही तुम हमसे अलग न थे, फिर पहचानते देर क्यों लगती? ⁂

तभी तो तुम भी हमारी प्रसन्नता में सम्मिलित होकर हँसोगे, दुख में घुलकर रोओगे! विश्वास नहीं होता? तो साँसों की सुख-स्पर्श समीर से खुले, नव-प्रकाश-धार में धुले हमारे प्राणों के पृष्ठों को पढ़ देखो। वहाँ किसी से सुनी-सुनाई रूखी-सूखी सीखें नहीं, हमारे ही होठों की हँसी, हमारी ही आँखों के आँसू, हमारे ही हृदय का स्पर्श, हमारे ही प्राणों की पहचान - साहित्य है।

❀ "की जानि की होलो आजि, जागिया उठिल प्राण,
दूर हते शुनि येन महासागरेर गान!"
"आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिल प्राणेर पर!"

⁂ हमें मालूम हुआ-विश्व का प्रत्येक प्राणी एक ही धागे में गुँथा है, एक ही अनुशासन का अनुवर्त्तन करता है, प्रत्येक में एक ही आत्मा का अधिवास है--

Each breathing thing obeys one mind's control,
And in all substances is a single soul.

साहित्य एक सन्देश है जिसे सुने बिना तुम बहरे हो। साहित्य एक अलौकिक सौन्दर्य्य है जिसे देखे बिना तुम अंधे हो। साहित्य एक चेतना है जिसे न पाकर तुम जीवन्मृत हो। साहित्य एक साधना है जिसे अपना कर तुम पशु-श्रेणी से ऊपर उठकर मानव का परम-पद प्राप्त कर सकते हो। साहित्य एक ऐसे निःस्व का सर्वस्व-दान है जिसे पाकर, यदि तुम रंक हो तो राजा हो सकते हो; राजा हो तो सम्राट् बन सकते हो। ❀

साहित्य सृष्टि ही नहीं, स्वयं स्रष्टा भी है। इसी लिए कहा जाता है कि हमें चाहे मेट दो, हमारे नगर-प्रान्त, देश-राष्ट्र सबका नाश कर दो, पर हमारा साहित्य मत छूओ, उसे ज्यों का त्यों रहने दो, हम उसकी सञ्जीविनी सुधा पीकर फिर से जी उठेंगे, अमर हो जायँगे।

❀ साहित्य में सिर्फ आसमान-जमीन, ग्रह-नक्षत्र, गिरि-कन्दर, झाड़-झंखाड़, कोयल-बुलबुल, समुद्र-सरित, बादल-बिजली, चित्र-संगीत, समाज-राजनीति, दर्शन-विज्ञान, भूगोल-खगोल, दानव-मानव, शेक्सपियर-मिल्टन, कालिदास-भवभूति, बुद्ध-शङ्कराचार्य्य, क्राइस्ट-सॉक्रेटिज, ब्राउनिंग-शेली, निराला-पन्त, रवीन्द्र-नजरुल, अकबर-इकबाल, क्रोध-ईर्ष्या, दम्भ-द्वेष, लोभ-मोह, जीवन-मरण, श्वास-उच्छ्वास, प्रेम-विरह, यह दृश्यमान विश्व, या वह स्वप्न-संगी स्वर्ग ही नहीं, और कुछ, बहुत कुछ, सब कुछ है। हाँ तो, वह जो अखिल-निखिल, समग्र सम्पूर्ण है, वही साहित्य है।

राशीकृत ज्ञान, पुञ्जीभूत शाश्वत सत्य, सञ्चित मानस-रस, उद्वेलित आनन्द, लोकोत्तर प्रतिभा-प्रकाश, प्राणों के पालने पर हौले-हौले पैंगें भरती सौन्दर्य्य की सजीव प्रतिमा ही तो साहित्य है। वह जो देह में हृदय, हृदय में प्राण, और प्राणों में अनुभूति है; वह जो साँस में स्वर, स्वर में राग, और राग में मदिर-मधुर मूर्च्छनामय सङ्गीत है; वह जो स्वप्निल-कल्पना में भाव, भाव में रूप, और रूप में चेतन-लावण्य है, वही सत्य-सौन्दर्य का मङ्गलमय स्पर्श है, उसी को साहित्य कहते हैं।

उसकी स्वर्गीय प्रभा प्राप्त कर हमारा देश, हमारा राष्ट्र फिर से जगमगा उठेगा। क्योंकि हमारा साहित्य ही हमारी संस्कृति है, प्राण है, हमारा 'हमारापन' है। उसीके कारण हम अपनी मौलिक विशेषता की ओर इङ्गित करते हैं; उसके विना हमारा अपना अस्तित्व शेष नहीं रह सकता।

और इसीलिए मैं साहस के साथ प्रान्त, देश और राष्ट्र सब की परिधि पार कर, सब की संकुचित सीमा से आगे—बहुत दूर आगे बढ़कर इस विशाल विश्व का ही विनाश करने के लिए दुष्ट-दुरन्त दैत्य-दानवों को ललकारता हूँ, चुनौती देता हूँ. केवल एक ही प्रतिश्रुति पर कि वह इसके साहित्य की ओर अपनी ज्वलन्त ज्वालामुखी-दृष्टि न डालें; अपनी आकुञ्चित उँगली न उठाएँ। बस, फिर वह आँखें फाड़-फाड़ कर देखें कि कैसे उस तामस प्रलय जल-प्लावन पर सात्विक साहित्य का स्वर्णिम सहस्रदल प्राची-नभोमण्डल की ओर उन्मुख-उदग्रीव हो, एक-एक कर अपने सकल दल खोलता है। कैसे उसके परिमलमय प्रत्येक दल के जादू से आप-ही-आप खिच-खिच कर अज्ञात अदृष्ट राशि-राशि भूले भौंरे गुन-गुन करते, मँड़लाते आते हैं। और तभी उन्हें भली भाँति विदित हो जायगा कि साहित्य यह या वह नहीं—सब कुछ है। वह केवल किसी की सृष्टि ही नहीं, स्वयं एक आदर्श स्रष्टा भी है।

मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि साहित्य सत्य, ज्ञान (शिव) तथा आनन्द (सुन्दर) का समीकरण है। सत्य, ज्ञान या आनन्द नश्वर नहीं, चिरन्तन है; शाश्वत है। फिर जो सत् (सत्य) है, उसका अभाव, उसका नाश हो कैसे सकता है?

- नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

एप्रिल '३८

काव्य साहित्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए जिसने पहले पहल तर्क और युक्तियों का आश्रय लिया, मै कहना चाहता हूँ, नास्तिकता का प्रथम प्रचारक भी उसे ही मानना ठीक होगा।

आए दिन शूद्रजाति के भीतर की बहुत सी उपजातियाँ अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रही हैं। परन्तु विचार करने पर यह सुस्पष्ट प्रतीत होगा कि इस प्रकार की सिद्धि के लिए किए जाने वाले उनके प्रयत्न ही असिद्धि के विज्ञापक बन बैठे हैं। मैं नहीं समझता, जो सचमुच ही ब्राह्मण है उसे अपने को ब्राह्मण 'सिद्ध' करने की कभी भी क्यों आवश्यकता होगी? जानबूझ कर या अनजानने, किसी भी दशा में आग में उँगली डालने पर वह अवश्य जलेगी, अग्नि को अपने अग्नित्व की सिद्धि के लिए पृथक प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं।

मेरा संकेत "तर्कोऽप्रतिष्ठः" की ओर है। चाहे कितने भी प्रबल तर्क किसी पक्ष की पुष्टि के लिए क्यों न पेश किए जायँ, मौलिक चिन्तनशील व्यक्ति उनके विरुद्ध, उतने ही प्रबल तर्क-प्रमाण उपस्थित कर देगा। इसीलिए उपनिषद् ने साफ शब्दों में कह दिया—'नैषा तर्केण मतिरापनेया।' अर्थात्, तर्क के द्वारा 'उसे' कभी नहीं पाया जा सकता। ऐसी दशा में यदि ईश्वर के लिए दिए हुए प्रमाण भी अखण्डनीय नहीं हो सके, तो विश्व की अन्य किसी वस्तु के विषय में क्या कुछ कहा जाय? अस्तु।

ज्ञान-ज्योति के स्तर पर स्तर पार कर जाने वाले महामानवों के अङ्कित जिन चरण-चिन्हों को 'साहित्य' नाम से पुकारा जाता है; मननशील मानवजाति की कल्पित-अनुभूत ज्ञानराशि को जिस के माध्यम से प्रकट किया

जाता है, उसकी सिद्धि जभी 'सहित' शब्द 'में ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ कर करने की नौबत आ गई, यह निश्चय हो गया कि तथाकथित शूद्र वर्ण की ही भाँति अब इन तीन वर्णों—साहित्य—में भी ब्राह्मणत्व की गुंजाइश नहीं रही। व्याकरण के डिक्टेटर ने जबर्दस्त 'विग्रह' कर इनकी असलियत ही हड़प ली।

साहित्य शब्द का काव्यपरक हो गया। बड़ी उदारता हुई तो उससे काव्य का आलोचनात्मक भाग—अलङ्कार शास्त्र भी लिया गया। जो साहित्य शब्द अर्थ के उस अनन्त आकाश में प्रतिष्ठित था कि उसकी सीमा की कल्पना भी दिग्भ्रम उत्पन्न करनेवाली जान पड़ती थी, उसे ही काव्य के घेरे में डालकर साफ-साफ समझा दिया गया कि 'जिघ्रतीति व्याघ्रः' अर्थात् सूँघने वाले को शेर कहते हैं की भाँति ही 'सहितस्य भावः साहित्यम्' भी वैयाकरणकेसरी का अनर्थकारी विग्रह मात्र है। किन्तु फिर भी रूढ़ि टल जानेवाली बला नहीं। उसे अन्धविश्वास का पर्य्याय ही समझना चाहिए। आज साहित्य शब्द की दौड़ काव्यार्थ की सीमा के बाहर नहीं।

ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व के भरत मुनि से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत में जितने भी साहित्यिक हुए, सब इसी सुर पर बजते रहे।

महाकवि बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में—

"साहित्य - पाथोनिधि - मन्थनोत्थं
कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः!"

अथवा भर्तृहरि ने नीतिशतक में—

"साहित्य - संगीत - कला - विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः"

इसी सङ्कुचित अर्थ में लिखा।

ईसा की दसवीं शताब्दी में राजशेखर नामक एक बहुत बड़े विद्वान् हुए थे। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से साहित्य की मौलिक समीक्षा की है, संस्कृत-साहित्य की। उनके विचार अनेक स्थलों पर अत्यन्त नवीन, अत्याधुनिक हैं; जब भी 'प्रगतिशील' नहीं। उन्होने अपनी 'काव्य-

मीमांसा' में कौटिल्य के मत के अनुसार चार विद्याएँ बतलाई हैं,—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। और पाँचवी विद्या साहित्य को कहा है, जिसमें पूर्वोक्त चारों विद्याओं का सार रहता है; जो सब विद्याओं का सार, तत्त्व होने से सर्वश्रेष्ठ है।

किन्तु मेरा विश्वास है, विद्या और अविद्या के अतिरिक्त तृतीय भेद की कल्पना अनावश्यक है। दण्डनीति, जिसे आज कल राजनीति या Politics कहते है, अर्थशास्त्र, जिसे Economics कहते है, और Civics जिसे नागरिक-शास्त्र कहा जाता है, अविद्या ही के अन्तर्गत है, विद्या के कदापि नहीं। विद्या सत्य-ज्ञान की उपदेशिका होती है, लौकिक संधि-विग्रह के, लड़ाई-झगड़ों के दाँव-पेंच या हथकण्डे सिखलाने वाली नहीं। विद्या तो वह है जिसे जानने के बाद फिर कुछ जानना शेष न रहे। 'यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते।' जिसे जानकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त हो।

गुरु-पुरोहितों द्वारा राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रह्लाद ने अपने पिता से कहा था—

"साम चोपप्रदानं च भेददण्डौ तथा परौ,
उपायाः कथिताः सर्वे मित्रादीनां च साधने
तानेवाहं न पश्यामि मित्रादींस्तात मा क्रुधः
साध्याभावे महाबाहो। साधनै किं प्रयोजनम्?
त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति सः
यतस्ततोऽयं मित्रं मे शत्रुश्चेति पृथक् कुतः?
तदेभिरलमत्यर्थं दुष्टारम्भोक्तिविस्तरैः
अविद्यान्तर्गतैर्यत्नः कर्त्तव्यस्तात! शोभने।

मैने राजनीति का अध्ययन तो अच्छी तरह से कर लिया, पर सोचने विचारने, मनन-चिन्तन करने पर वह मुझे कुछ जँची नहीं। यह जो साम, दाम आदि नीतियाँ हैं, सो यथासमय मित्र एव शत्रु को साधने के अभिप्राय से निर्मित हुई जान पड़ती हैं; किन्तु पिता जी! आप मुझ पर क्रुद्ध न हों, मुझे तो इस अखिल-निखिल चराचर मे कोई शत्रु ही नहीं ज्ञात

होता। फिर जब शत्रु-मित्र का ही अभाव है, तो इस नीति को सीख कर क्या होगा? आपमें जो शक्ति कार्य्य कर रही है, वही मुझमें तथा औरों में भी है, फिर उस एकही शक्ति से सञ्चालित इस विश्व में कोई किसी का मित्र या शत्रु कैसे हो सकता है? इसलिए आप कृपा कर इस अविद्या की दुष्ट शिक्षा से मुझे बचावें। मनुष्य को विद्या पढ़नी चाहिए, अविद्या कदापि नहीं।

कालिदास ने भी शकुन्तला में इसी विद्या (?) को "दूसरों को धोखा देने वाली", साफ शब्दों में "फरेबी" कहा है—"पराभिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः!" आज इसी अविद्या के चक्कर में पड़ कर लोग ध्वस्त-नष्ट हो रहे हैं। वकील-बैरिष्टर, मामले-मुकद्दमे, खून-खर्राटे, दंगे-हंगामे—सब इसी बिल से निकले हुए विषधर है। कोई उन पैसों के प्यासों से मानसिक शान्ति की बाबत पूछ देखे, सब ठंडी गरम साँस छोड़ते दीख पड़ेंगे। फिर जिस विद्या से शान्ति-सुख की तनिक भी आशा नहीं, उसे 'विद्या' कहना अविद्या का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो और क्या है? आज विद्या के नाम पर विद्यार्थीगण यही अविद्या पढ़ने, अहोरात्र 'पैसा-पैसा' पुकारते हुए कुत्सित-से-कुत्सित कर्म करने पर तुले हुए हैं। विश्व की वर्तमान अशान्ति, क्षोभ और हाहाकार का कारण यही, एकमात्र अविद्या है।

> "विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात्तात, जायते,
> बालोऽग्निं किं न खद्योतमसुरेश्वर मन्यते?
> तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये;
> आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पकौशलम्।"

प्रह्लाद की उक्ति है कि अज्ञान के कारण अविद्या को भी लोग विद्या कहने लगते है, जैसे बच्चे जुगनू को चिनगारी समझते हैं। पर वस्तुतः कर्म तो वह है जो फँसानेवाला, सांसारिक दाँव-पेचों में पड़ाए रखनेवाला न हो। और, विद्या भी वही है जो अत्यन्तिक सुख-शान्ति की जननी हो, परम तृप्ति-प्रदायिनी हो। इसके अतिरिक्त और सब कार्य्य केवल परिश्रम के लिए; और सभी विद्याएँ शिल्प या हुनर हैं।

विद्या केवल अध्यात्म-विद्या है। वही आत्मज्ञानपूर्वक लोकमंगल की सीख देती है। इस कार्य के सहायक उसके और जितने अंग-उपांग

हैं; उन्हें भी विद्या कहना ठीक होगा। इस दृष्टि से साहित्य ही उसका सर्वश्रेष्ठ सहायक सिद्ध होगा। क्योंकि जिस तत्त्व को अध्यात्म (वेदान्त) अनुशासन द्वारा सिखलाता है, उसे साहित्य बड़ी ही ऋजुता से शनैः शनैः सर्वप्रिय एवं सर्वजनसंवेद्य बना देता है। ऐसा मृदु-स्वभाव तथा सरस-हृदय होने के कारण साहित्य स्वयं ही दर्शन से अधिक प्रिय और उपयोगी सिद्ध होता है। क्योंकि नीरस कह कर जो लोग दर्शन-शास्त्र की उपेक्षा कर देते है, वही इसकी रमणीयता पर सौ वार निछावर होते है। और उन्हें अनायास वही तत्त्व प्राप्त होते हैं, जिन्हें दर्शन के गंभीर-अध्ययन से ही पाया जा सकता है। जो प्यार से सत्य की सीख दे सकता है, उसके समस्त नीरस अनुशासन को महत्त्व देना गुरुडम की पीठ ठोंकना-जैसा है। हाँ, यह सीख देने की—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—बात भी केवल भारतीय नहीं, पाश्चात्य-जगत् में भी पूर्णतया प्रचलित है। वर्ड्सवर्थ ने प्रत्येक महान् कवि को उपदेशक कहा है और उसने स्वयं उपदेशक कहलाने की अत्युत्कट आकाङ्क्षा प्रकट की है: Every great poet is a teacher: I wish to be either considered as a teacher or as nothing at all.

राजशेखर ने साहित्य-विद्या की परिभाषा की है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।" अभिप्राय यह कि और-और शास्त्रो मे केवल विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही शब्द प्रयुक्त होते हैं—वहाँ अर्थ के समक्ष शब्दों का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। किन्तु साहित्य मे वैसी बात नही। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों को बहुमूल्य होना चाहिए। दोनों का बैलेंस बराबर रहना चाहिए। इसीलिए इसे साहित्य कहते है। *

इस प्रकार साहित्य का अर्थ 'काव्य' इन्होने भी माना है। अलंकार शास्त्र के आदि-आचार्य भामह (ई० ५०० के लगभग), सुप्रसिद्ध काव्य-

---

* "न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र योगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।"

प्रकाश के रचयिता मम्मट भट्ट (नवीं शताब्दी), वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तल (ई० ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग) आदि अनेक आचार्यों ने भी अपने-अपने काव्यलक्षणों में 'शब्द और अर्थ' पर बल देते हुए इसी आशय की पुष्टि की है। *

एक समय था, जब शत-शत वर्षों तक सत्य के अन्वेषणार्थ तपस्या मे लीन रहना अनावश्यक अथवा असम्भव नहीं प्रतीत होता था। वह युग ज्ञान-पिपासा का था। सबों का ध्रुवलक्ष्य सत्यतत्त्व प्राप्त करना होता था। अनेक ऋषि-महर्षि उसी ज्ञान-युग की देन थे। उसी समय वेदों का साक्षात्कार हुआ। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। कालक्रम से तपस्साधना मे नीरसता की अनुभूति होने लगी। ज्ञान-भूमि कुछ और निम्न स्तर पर आई। वेद रूपकों द्वारा समझाए गए। यह काल पुराणों का था। अरूप की कल्पना दुरूह तथा दुर्बोध हो गई थी, इतनी कि राम और कृष्ण रूप की पराकाष्टा पर पहुँचा कर निर्मित हुए। लिखा है कि

* मनुष्यों के बल-वीर्य-तेज-आयु—सब में न्यूनता देख कर लोक-हितैषणा से वेद मे भेद किए गए। एक ही वेद (ज्ञान) का व्यास (पृथक्-पृथक् विभाजन या विस्तार) करने के कारण स्वयं भगवान् वेद व्यास कहलाए।

"कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्,
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत् ?,,

अर्थात् कृष्णद्वैपायन व्यास को नारायण ही समझना चाहिए।

---

* (१) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालंकार); (२) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश); (३) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि, बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि (वक्रोक्तिजीवित)।

* "वीर्य्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च,
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः।
यथाऽसौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः,
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्त्तिर्मधुद्विषः।"

नहीं तो, इस पृथ्वी पर ऐसा कौन है जो महाभारत का निर्माण करे?" *

इसके बाद मानसिक ह्रास, चारित्रिक पतन अनुदिन वृद्धि पर रहा। तत्त्वदर्शियों द्वारा उससे भी सुलभ सुगम मार्ग का अन्वेषण हुआ। वही काव्य-साहित्य कहलाया। कहने का अभिप्राय यह कि प्रत्येक युग के प्रतिनिधि महामानवों द्वारा उपदिष्ट एक ही सत्य कभी वेद, कभी इतिहास-पुराण और कभी काव्य के नाम से घोषित हुआ। ज्यों-ज्यों मनुष्य-समाज में साधना, तपस्या तथा तज्जन्य ज्ञान की न्यूनता दृष्टिगत होने लगी, त्यों-त्यों उसे सजग, उद्बुद्ध करने के लिए सरल से सरलतर पद्धति द्वारा ज्ञानोपदेश दिया गया। वेद में जो ज्ञान या दर्शन है, वही पुराणों में स्थूल उदाहरणों से उपबृंहित हुआ है। वेद और पुराण में वास्तविक भेद नहीं है। काव्य की भी यही दशा है। काव्य के द्वारा जो तत्त्व बतलाया जाता है, वह श्रुति-स्मृति से पृथक् नहीं। केवल शैली की विशेषता सत्य के सम-प्रकार को विभिन्न नाम दे देती है। वेद से तुलसीदास तक एक ही तत्त्व अनेक भङ्गियों से बतलाया गया है।

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधु-काव्य-निषेवणम्।"

का यही रहस्य है।

※ जिस प्रकार सुवर्ण भेद-रहित तथा एक होकर भी कटक, मुकुट तथा कर्णिका आदि के भेद से नानारूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही हरि देवता, मनुष्य, पशु आदि कल्पनाओं द्वारा निर्दिष्ट होता है। ठीक वैसे ही, एक ही सत्य-तत्त्व वेद-पुराण, दर्शन और काव्य आदि नाम

---

* इसी विषय को बृहदारण्यक में यों लिखा है—"स यथार्द्रैधाग्नेः अभ्याहितात् पृथक् धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।"

※ "कटक मुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्,
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकः।

तथा पदवी से युक्त भिन्न प्रतीत होता है।

प्रत्येक ज्ञानी का कार्य, जनता को मोह, अज्ञान से ऊपर उठाना होता है। सत्य का दान ही कवि तथा कलाकार का उद्देश्य है। इसलिए वह समयानुसार परिवर्तित होनेवाली लोकरुचि के अनुकूल, सत्य को नाना रूपों, रंगों के भीतर से आकर्षक बनाकर उपस्थित करता है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ मे, ज्ञान के प्रथम आलोक के समय अनादि कवि ने जिस प्रकार यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया था; यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार कर्त्तव्य पदार्थों का याथातथ्य विधान किया था। * उसी प्रकार प्रत्येक काव्य-कर्त्ता अर्थात् कवि को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य, ग्राह्य-त्याज्य का विभाग कर लोक को सत्पथ पर प्रवृत्त करना होगा। फलतः जो शुद्ध-चित्त, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, आत्मदर्शी, सममति नही है, वह कदापि कवि कहलाने का अधिकारी नहीं। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और सूरदास, मीरा और कबीर आदि ने जो कुछ भी काव्य रूप से कहा वह वेद, पुराण अथवा चिरन्तन सत्य-तत्त्व का ही नवीन संस्करण है। उसे ही आदर्श अथवा साधु-काव्य कहना चाहिए। इस प्रकार वेद-पुराणो के ही उच्च-उदात्त तत्त्वों को सरस संगीतमय रूप से गानेवाला 'काव्य-साहित्य' समयानुसार स्वयं सर्वप्रिय एवं सर्वश्रेष्ठ बन बैठा है।

अंग्रेजी मे साहित्य का समानार्थक लिट्रेचर समझा जाता है। हिन्दी आदि में भी इसी लिट्रेचर की देखा-देखी अब बड़े व्यापक अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग होने लगा है। पर वस्तुतः वह प्रयोग (एक्सपेरिमेण्ट) मात्र ही है। कारण, अंग्रेजी में लिट्रेचर का व्यवहार तो "साहित्य" के अभिप्राय से होता है, पर वहीं, जहाँ

---

*"स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्, अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

उस भाषा के सम्पूर्णशास्त्रों को एक ही शब्द से कहने की साध होती है। वस्तुतः "साहित्य पढ़ते हैं" का मतलब "विज्ञान या कानून पढ़ते हैं" वहाँ भी नहीं समझा जाता। और फलतः आर्ट्स तक घूम फिर कर वह रह जाता है। साहित्य से वहाँ भी ऐसथेटिक प्लेजर ही की खोज की जाती है—जो काव्य द्वारा प्राप्त होता है।*

इस प्रकार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य शब्द काव्य ही के अर्थ में चरितार्थ होता है। मेरे विचार से इसमें एक रहस्य है। साहित्य शब्द सम्पूर्णता का प्रतिनिधि है। सम्पूर्णता, जिसे दार्शनिक भाषा में 'भूमा' कह सकते है। साहित्य का वास्तविक अर्थ, इसलिए, अनन्त ज्ञानराशि है। और ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म है। 'ब्रह्म' की सम्पूर्णता विश्व-विदित है। वैसे उसका अपना कोई आकार-प्रकार नहीं, पर उसे अणु-अणु मे व्याप्त माना जाता है। साहित्य या ज्ञान-राशि का भी कोई एक स्वतत्र रूप नहीं निर्द्धारित किया जा सकता। इसीलिए उसे ज्ञान के प्रत्येक उपलब्धि-स्थान (शास्त्रों) में प्रतिष्ठित मानना चाहिए।

वस्तुतः सकल-शास्त्र,—सम्पूर्ण-ज्ञान-राशि एक ही 'साहित्य' है। पर जैसे जलराशि मात्र को एक ही महा-महासागर न कह कर व्यवहार के लिए कई-कई सागर-उपसागरों, पैसिफिक-ऐटलांटिक, रेड सी और ब्लैक सी में विभक्त कर लिया गया है, उसी प्रकार एक ही साहित्य मनोविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, काव्य-नाटक आदि अनेक नामो से रूपान्तरित हो गया है।

काव्य ही के अर्थ में साहित्य शब्द के विशेष-प्रयोग का रहस्य मुझे दूसरा प्रतीत होता है। जैसे घट घट में व्यापक होने पर भी ईश्वर

---

*"Literature is the name given collectively to all those books in which subjects of a general human interest are dealt with a manner so as to give aesthetic pleasure to the vast majority of men." काव्य की सुस्पष्ट परिभाषा है।

का उपलब्धि स्थान हृदय ही है; पृथ्वी मात्र के ईश्वर-व्याप्त होने पर भी तपस्या, समाधि या मनन के उपयुक्त प्रशान्त तपोवन, या एकान्त स्थान ही माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-ज्योति से सकल-शास्त्रों के ओतप्रोत रहने पर भी काव्य ही तत्क्षण अलौकिक आनन्द में मज्जित कर सकने, प्रति-पल भटकते फिरनेवाले चपलतम मन को एकाग्र कर रस-सागर में परिप्लावित करने की क्षमता रखने के कारण साहित्य-शब्द से व्यवहृत होता है। इसीलिए मेरा कहना है कि साहित्य की इस पावन-वनभूमि का परकीया नायिकाओं का स्वैर-विहार-स्थल बनना पाप ही नहीं, महापाप है। अस्तु।

आनन्द हृदय का धर्म है। काव्य का कार्य्य रस-दान है। काव्य हृदयोद्‌गार होने के कारण जैसे साक्षात् रस या आनन्ददायक है। 'आनन्द-निःस्यन्दिषु रूपकेषु'। और, श्रुति की उक्ति है कि "रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" रस या आनन्द ही ब्रह्म है। ब्रह्म को अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय आदि बतलाते हुए आनन्दमय के बाद फिर कुछ न कह कर उपनिषद् ने अपना अभिमत स्पष्ट कर दिया है। मैं कहना चाहता हूँ कि अन्य शास्त्र 'ज्ञानमय' 'प्राणमय' तो हैं पर 'आनन्दमय' कदापि नहीं, वह काव्य ही है। इसलिए—रसमय या आनन्दमय होने के कारण काव्य ही साहित्य-शब्द से अभिहित होता है। मैं भी यहाँ इसी अर्थ में 'साहित्य' का प्रयोग करूँगा।

जुलाई '३८



साहित्य और दर्शन

१

इस विशाल विश्व मे ऐसा एक भी प्राणी नहीं, जिसे आंसुओं का त्योहार मनाना पसद हो। सभी सुख के लिए मुँह बाए, हाथ फैलाए रहते है। फिर, सब में प्रबुद्ध मानव का तो हमेशा सुख के लिए मुख सूखा ही रहता है। परन्तु दुःख है कि वह सूखा ही रहता है, और प्रायः सूखा ही रह जाता है।

इसका कारण, कहते है, "ए जगते, हाय, सेइ वेशि चाय, आछे यार भूरि-भूरि" इस संसार मे वही और-और चाहता जाता है, जो पहले से भी भरा-पूरा होता है। बात ठीक है। पर इसके कारण की भी खोज करनी चाहिए। लालच वास्तविक खोज कदापि नहीं। क्योंकि स्वय लालच की नीव जिस पर रखी जाती है, उसे ढूँढ़ निकालने के लिए थोड़ी गहराई मे उतरने की आवश्यकता है।

दर्शन उसी गहराई का ठीक-ठीक पता बताता है। वह कहता है—इसका एकमात्र कारण अज्ञान है।* ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तो शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है।

सचमुच अज्ञान ही समस्त उपद्रवो-अनर्थों का मूल है; सकल दुःख-दारिद्र्य का निगूढ रहस्य है। लोग प्यास से अकुला-अकुला कर प्याले पर प्याला ढाले जाते है, पर प्यास का बुझना तो दूर, वह और दूनी तिगुनी होती जाती है। किसी को धन की प्यास है तो वह विश्व की प्रभूत विभूतियो को अपनी ही अट्टालिका मे बंद देखना चाहता है और अपने आसपास, अड़ोस-पड़ोस को मरुभूमि, कगाल, कंकाल। पर, जब तक पड़ोसी कगाल है, महल की तो खैर नही। ताले टूटेंगे,

---

* ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

सम्पदाएँ लुटेंगी। या, यह सब कुछ न भी हो तो भी कुबेर बनने से पहले या उसके बाद तक भी, उसकी निर्मर्याद धन की तृष्णा तो नहीं मिटने की, वह और-और चाहता ही चला जायगा। 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' और जब तक तृष्णा है, सुख कहाँ!

तृष्णा अधिक से अधिक चिन्ताएँ उत्पन्न करेगी। चिन्ताओं के जड़ में अभाव रहेगा। और अभाव ही का दूसरा नाम दुःख है, जैसे सुख का दूसरा नाम परिपूर्णता। "यो वै भूमा तत्सुखम्।"

हाँ तो, प्यास से अकुला कर बर्फ खाते या दूध पीते ही वह और बढ़ जाती है, बढ़ती जाती है। संसार इसीलिए दुखी है। उसे प्यास पानी की,—'जीवन' की रहती है, पर वह उसे पहचान नहीं पाता और दुःख झेलता रहता है। कोई मरु-मरीचिका में 'नव उज्ज्वल जलधार' की खोज करता है, करे, पर यह तो पूर्वसिद्ध है कि वहाँ उसकी प्यास नहीं मिट सकती।

यह लुण्ठित धन-सम्पदा, प्रचार-लब्ध सम्मान-प्रतिष्ठा एक प्रकार की 'मृगतृष्णा' है, इससे आन्तर सुख की—अक्षय-सुख की आशा रखना व्यर्थ होगा। इसीलिए मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य को उत्तर दिया था,—"तब मैं धन-सम्पदा आदि प्राप्त कर क्या करूँगी, जबकि उससे सुख की, अक्षय सुख की—अमृतत्व की प्राप्ति ही नहीं हो सकती?" [येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम्?]

एक बात और। शुष्क मरुस्थल में शीतल जलधार भी उसी को दिखती है, जिसे प्यास लगी रहती है; तृप्त को कदापि नहीं। इस दृश्यमान विश्व की नश्वर सम्पदा में शाश्वत सुख का अनुभव वेही करना चाहते हैं, जो उस के लिए अंधे हैं। पर चूंकि वे अंधे हैं, टटोल कर भी कुछ नहीं देख सकते। यही दिखाने का काम 'दर्शन' करता है। वह कहता है,—जैसे प्यासे की प्यास ही सूर्य्य की प्रचण्ड किरणों में पानी बन कर झलकने लगती है, उसी प्रकार तुम्हारा सुख का मोह ही फणी की मणी कलत्र में प्रतिभासित होता है। पर सचमुच तो वहाँ दुःख ही दुःख, अभाव ही अभाव है।

जब तक किसी को मृत्यु का भय है, मर जाने का दुःख है, वह अपने को सुखी कहने का साहस ही कैसे कर सकता है? अथवा, चार दिनों की चाँदनी में अमा के अबन्ध अन्धकार को भूल जाने की मूर्खता करे कोई, पर अमा तो अपनी बुद्धिमत्ता नहीं छोड़ने की। सुख (?) की नींद सोए हुए को जगाने की भूल मृत्यु कभी नहीं करती।

फिर धन-धान्य-पुत्र-कलत्र में पाया जाने वाला सुख क्या सचमुच ही अज्ञान नहीं है? जिस सुख में पड़ कर आदमी सब कुछ भूलने लगता, सो जाता है. वह सुख नहीं, भूल है; नशा है। अक्षय सुख प्राप्त कर कोई भूलता नहीं, अपने को ठीक-ठीक समझता है; सोता नहीं, सदा के लिए जग जाता, प्रबुद्ध हो जाता है।

लेकिन संसार भूल-भुलैयाँ में पड़ा है. दुःख भोग रहा है। जिन्होंने इस तत्त्व—अक्षय-सुख को जाना, समझा; इसकी प्राप्ति के मार्ग ढूँढे, वे यही कहते रहे। साहित्य और दर्शन, उन्हीं के हृदय की द्रुत अनुभूति, उन्हीं के मस्तिष्क की सजग ज्योति है।

२

वह मृत्यु को मेटने वाला अक्षय सुखतत्त्व "आत्म-ज्ञान" के अतिरिक्त और कुछ नहीं; ※ साहित्य और दर्शन समस्वर से इसी का प्रतिपादन करते हैं।

जैसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति (प्रेम) दो पृथक्-पृथक् मार्ग निर्दिष्ट हैं, वैसे ही साहित्य और दर्शन भी है। दोनों की पहुँच एक ही तत्त्व, एक ही सीमा तक होती है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। साक्षात् ज्ञान के समान दर्शन और भक्ति (प्रेम) की भाँति साहित्य है।

मुझे यह कहते तनिक भी हिचक नहीं होती कि (प्रेम) भक्ति ही के समान साहित्य का रस प्राप्त करने वाला भी बिरला ही होता है। ‡

※ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्याः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

‡ पुण्यधन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्।

कुछ उच्च विचारक दार्शनिक शब्दों में दर्शन को श्रेय और साहित्य को प्रेय कहने तक की उदारता करते हैं। मेरे विचार से वह 'संन्यास' का अर्थ त्याग और 'प्रेम' का अर्थ 'भोग' समझने की भूल करते हैं। श्रेय और प्रेय दोनों दिवा और रजनी की भाँति परस्पर विभिन्न हैं। 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः।' श्रेय का अभिमत अभिप्राय विद्या और प्रेय का अविद्या है। विद्या का परिणाम मुक्ति और अविद्या का सर्वनाश है। अतः साहित्य को प्रेय कहना दूसरे शब्दो मे उसे 'नरक का पथ' ही कहना है। पर चूँकि साहित्य नरक का नहीं, स्वर्ग का स्वर्णिम सोपान है, मै उसे किसी भी प्रकार प्रेय कहने का दुःसाहस नही कर सकता। साहित्य मे भोग और वासना का उल्लेख उद्दीपन-आकर्षण के लिए नही, त्याग-विराग का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही है। यशोधरा, राहुल, ऐश्वर्य आदि गौतम को बुद्ध बनाने के लिए थे। साहित्य सिखलाता है कि बिगड़ने की सारी सामग्री प्रस्तुत रहने पर भी जिसका चित्त स्खलित नहीं होता—वही धीर है, स्थितप्रज्ञ है, मानव है।* पङ्क के माध्यम से पङ्कज की भाँति प्रेय के भीतर से श्रेय का दर्शन कराना ही साहित्य का कार्य है। प्रेय मानव का प्रिय पथ है, ज्ञान की रूक्षता का मोह-मृदु हृदय अपनाना नहीं चाहता। सत्य का भार वहन करने के लिए दुर्बल मानव शीघ्र तत्पर नही। साहित्य उसकी इसी मनोवृत्ति को भलीभाँति समझ कर, उसे धीरे-धीरे आत्मतत्त्व,—अमृतत्त्व का परिचय देता है। उसी की रुझान पर रीझ-रीझ, उसी की बोली बोल-बोल, उसी की छाँह बन-बन, उसकी बाँह पकड़ता है। साहित्य का आलोक वासना के तमस्तोम का ऊपरी सोम-स्तर है। यदि उपवन मे जाकर कोई पेड़ गिन कर लौट आता या कोई फूलों की सुगन्ध से पागल होकर वही झूमता रह जाता है, तो इसे आने-जानेवाला जाने, उपवन इस दुराने-रिझाने की ऊपर क्रिया से ऊपर अपने आप मे मगन है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति सरल नहीं। कोई समर्थ ज्ञानी उसे सरलता से प्रदान करने मे अपने को असमर्थ ही पाता है कहता है, "वहाँ

---

*'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।'

आँखें नहीं पहुँच सकतीं, वाणी विवश हो जाती, मन हार मान लेता है। मैं नहीं समझता, नहीं समझ सकता, उसे किस प्रकार किसी को बतलाऊँ! वह तो मेरे ज्ञात से अन्य और अज्ञात से भी ऊपर है, अतिरिक्त है।" दर्शन का ऐसा ज्योतिर्नग्न उपदेश जहाँ रंग-बिरंगे आवरणों के भीतर से शतदल के दल की भाँति धीरे-धीरे खुलता-खिलता है, वही साहित्य का प्रभातोज्ज्वल सुजल सरोवर है। इसीलिए कहता हूँ कि वह प्रेय नहीं, श्रेय ही है। साहित्य स्वय दर्शन है।

३

कामिनी के कच-कुचो पर, सचमुच ही अपने जघन्य जीवन को न्योछावर करदेने वाले, साहित्य के लक्ष्य-तट के भटके हुए बटोही हैं। उन्हीं को आगे कर जो लक्ष्य तक पहुँचने का स्वप्न देखते हैं—उनके लिए "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" घिसी हुई उपमा नहीं।

जैसे संन्यासी होने का अर्थ जटा बढ़ाकर द्वार-द्वार रोटियाँ माँगने फिरना नहीं है, उसी प्रकार साहित्य का अभिप्राय भी नायिका-भेद नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि जटाजूट वाले अपने ही को सर्वश्रेष्ठ सन्यासी होने का जन्मसिद्ध अधिकार बताते है, पर शास्त्र का कथन तो यह है कि—

व्यर्थ जटामुकुट धारण करने वाले विड़ालव्रतियों से बातचीत करने से भी नरक होता है। नायिका-भेद वाले नारकीयों को भी ऐसा ही समझना चहिए।

संस्कृत के वृद्ध जरद्गव जब 'बाला चिरं चुम्बिता' पढ़ते-पढ़ाते समय अपने पलित हृदय तथा पालित सहृदय वटुगणों को अनादि आदि-रस में मज्जित करने लगते हैं तो अकस्मात् पोतियो की अवस्था की

---

*"पुंसां जटाधरणमौण्ड्यवतां वृथैव
संभाषणादपि नरा नरकं व्रजन्ति।"

रूपसी रमणियों द्वारा 'बाबा' कहे गए 'उडुगन' केशवदास की रसिक बेबसी याद आ जाती है। संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा के नायिका-नरक-कुंड नहा आनेवाले, साहित्य के मानस सरोवर की कल्पना भी नहीं कर सकते।

साहित्य में राम या कृष्ण को काम-जयी कहने का भाव अलौकिक सुन्दरता द्वारा उसे वशंवद कर लेना मात्र नहीं है, प्रत्युत काम को सर्वात्मना पराजित करने ही पर राम या श्याम बना जा सकता है,—इसी अर्थ का समर्थक है। साहित्य को संपूर्ण रूप से समझने के लिए यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक होगा। कुमार-संभव का मदन-दहन एक रूपक-मात्र है। उसका मर्म गहन होने पर भी अज्ञेय नहीं। ज्ञान की ज्योति में कामवासना का अन्धकार नहीं टिक सकता। शंकर का तृतीय नेत्र ज्ञान नेत्र ही तो था! इसीलिए कहता हूँ कि साहित्य दर्शन ही की भाँति ज्ञानादित्य की किरणों से धुला-पुँछा है, वह अपने सच्चे उपासकों को कृतार्थ ही करनेवाला है, स्वप्न में भी पथभ्रष्ट करने वाला नहीं।

सोने की लंका जला कर राम साहित्य नहीं समाप्त हो जाता। वह बताता है- राम ने जिस सीता के लिए अरण्य से लंका तक अश्रु और रक्त की धारा उमड़ा दी, वह उनके मलिन भोग-प्रदीप की रूप-शिखा नहीं, उज्ज्वल त्याग की ज्वलंत आहुति थी।

पाण्डवों ने मिट्टी के लिए लड़ाई नहीं लड़ी। "**सूच्यग्रं नैव दास्यामि**" की कलुषित मनोवृत्ति के साथ औचित्य या न्याय ने एक हाथ आजमाया था। "(सत्य) केशव का आश्रय लेने पर कोई हार नहीं सकता"—महाभारत का विशाल साहित्य केवल इतना ही कह कर नहीं चुप हो रहता। उसका उद्देश्य '**यतो धर्मस्ततो जयः**' पर ही समाप्त नहीं हो जाता। वह और आगे बढ़ता है; और उच्च स्वर से कहता है—जीवन के आदर्श-तत्त्व के लिए यह धार्मिक विजय भी कुछ नहीं। विजय हो या पराजय,—भोग की लोलुपता ही अमंगल-

कारिणी, अशान्ति-दायिनी है। जिसे अपना अनन्य अधिकार समझ कर पाया, उसे अपना कर्त्तव्य समझ कर निःस्वार्थ भाव से उत्सर्ग करने-त्याग देने में ही शाश्वत शान्ति है।

—साहित्य की सुवर्ण वीणा में ऐसी-ऐसी स्वर्गीय झंकारें भरी हुई हैं। वह अनहद नाद की भाँति आत्म-श्रुति द्वारा ही सुनी जा सकती हैं। जो उन्हें नहीं सुन सका, निःसन्देह वह हृदय-हीन या अभागा है। **"रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** की औपनिषद उक्ति-युक्तियाँ व्यावहारिक 'आदि रस' को कब तक "ब्रह्मानन्द-सहोदर" बना सकती हैं? आर्य्य-साहित्य के प्रारम्भ और अवसान में मंगल-द्वारा मानसिक दुरितो को दुराने का अनुक्रम रहा है, जिसका आन्तरिक आशय यही प्रतीत होता है कि साहित्य लोक-मंगल की कमनीय कामना करने वाला ही होता है। भोग-वासना निश्चय ही मङ्गल नहीं, विनाश है, वह साहित्य का कदापि अभिप्रेत विषय नहीं।

४

इधर कुछ दिनो से जो पूर्वोत्तर दिशा से एक अपूर्व वात्याचक्र उठा है, उसमे जटिल जीवन की प्रबल दुर्बलताओं को ऊपर उठा कर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। स्वाभाविकता या सत्य-प्रदर्शन के लिए उसने मानव-हृदय की सभी दरारों को दुपहर की रोशनी के सामने कर दिया है। प्राचीनता के नवीन पुजारियों को साहित्य की यह नग्नता पसन्द नहीं। पर मेरे विचार से इस पद्धति द्वारा भी लोकमंगल की ही अधिक प्रतिष्ठा हुई है। जब हमें यह देखने को मिलता है कि सत्य के पथ मे रोड़े हैं; धर्म मे दुःख ही दुःख है; पाप की हमेशा हार ही नहीं होती, तो हमे साहित्य के ऐसे सत्य से भय या घृणा क्यो होती है, स्नेह या सहानुभूति क्यों नहीं होती? विश्व का इतिहास तो हमे ऐसा मानने को विवश कर रहा है। फिर रही बात, यह भोग से वितृष्णा करने वाला या श्रेयः-पथ-प्रदर्शक साहित्य नहीं, सो

वह तो एकही दृष्टिकोण से देखने के कारण वैसा मालूम पड़ता है। हम उससे मानस को यह रस क्यों नहीं ग्रहण करने देते कि सत्य-पथ-पथिक होते ही हमें काँटों के लिए चरणों का समर्पण कर देना होगा? हम ऐहिक विलास और सुखोपभोग की ईहा से सत्य या धर्म को न अपनाएँ, किन्तु सत्य या धर्म को सत्य या धर्म ही के लिए ग्रहण करें। एक ओर समग्र अक्षौहिणी सेना और दूसरी ओर अकेला कृष्ण। एक ओर संसार की अशेष आकर्षक वस्तुएँ, दूसरी ओर विरस सत्य। हमें जो पसन्द हो, ग्रहण करें। **"येनेष्टं तेन गम्यताम्।"**

प्राचीन साहित्य में धर्म की निरंतर विजय दिखला कर हममे धर्म की सत्यता के प्रति आन्तरिक आग्रह नहीं, बल्कि आकर्षण या लोभ भरने का प्रयत्न रहा है। अर्थात्, हमें पुत्र-पौत्र, धन-सम्पदा या किसी भी प्रकार के (ऐहिक या आमुष्मिक) सुख के लिए धर्म करने को आमंत्रित किया गया है। किन्तु नवीन साहित्य ने इस धर्मादर्श से प्रतिदिन घटित होने वाली बात को अधिक महत्व दे,—पाप को भी सफल बना, हमारी सत्य-तत्त्व की स्वर्ण-कामना को आग में जला-गला कर दिखलाने की चेष्टा की है। अवश्य इससे प्रत्येक को श्रेय की प्रेरणा नहीं मिल सकती। किन्तु अन्ध-परम्परा के अभाव के कारण इससे श्रेय के लिए प्रेरित व्यक्ति को धर्म-लोलुप से अधिक धर्मात्मा बनने की आशा रहेगी। मुझे दोनों ही मार्ग प्रशस्त दीखते है। यह दूसरी बात है कि विज्ञान के युग में कोई 'ज्ञानी' बनना नहीं चाहता; किन्तु इसीलिए विज्ञान की तरह साहित्य तो केवल जड़वादी (Materialistic) नहीं हो सकता।

फलतः साहित्य और दर्शन को एक ही श्रेय का 'हृदय' और 'मस्तिष्क'; 'भाव' और 'ज्ञान', या 'अनुभूति' और 'चिन्तन' कह कर समान सम्मान मिलना चाहिए। विज्ञान-निशा के इस निश्चल निस्तब्ध-

प्रहर में भी आज के कवि कभी-कभी ' यह ऐसा विहाग-राग गा उठते हैं—

"जग का एक देखा तार,
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर झंकार।
बहु-सुमन,—बहु रंग,—निर्मित एक सुन्दर हार,
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
जग का एक देखा तार।"

—'निराला'

× × ×

"एक छवि के असंख्य उडुगन, एक ही सब में स्पन्दन,
एक छवि के विभात में लीन, एक ही तो असीम-उल्लास,
विश्व में पाया विविधाभास।"

—'पन्त'

जुलाई '२८



साहित्य और सौन्दर्य

१

"Beauty is Truth, Truth Beauty
That is all ye know, and all ye need to know"

—Keats

× × × ×

"If you get simple beauty, and not else,
You get about the best thing God invents."

—Browning

× × × ×

"अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की संधान !"

—पन्त

सुस्पष्ट शब्दों में, साहित्य (कला) की आत्मा, साहित्य (कला) का प्राण सौन्दर्य्य ही है। निश्चय ही इस सौन्दर्य्य में प्रकृति के अहैतुक सौन्दर्य्य से एक विशेषता रहती है। वह यह कि इस सौन्दर्य्य का निर्माण भले-बुरे, उपादेय-अनुपादेय के विवेक के साथ-साथ होता है! इसमें निर्माता के सौन्दर्य्य-ज्ञान, सौन्दर्य्यानुभूति का तत्त्व भी मिश्रित रहता है। इसलिये इसे प्राकृतिक सौन्दर्य्य का 'फोटोग्राफ' नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य्यमात्र नहीं, केवल अनिन्द्य सौन्दर्य्य ही कला-वस्तु का विषय है।

सौन्दर्य्य की ओर आकर्षण प्राणी का सहज धर्म है। सौन्दर्य्य की इसी अनन्त पिपासा, अनादि वासना के कारण प्राणि-श्रेष्ठ मानव स्वभावतः कला-प्रिय है। वह सौन्दर्य्य को सत्य और सत्य को सौन्दर्य्य कह कर ही नहीं सन्तुष्ट हो जाता, किन्तु यहाँ तक बलपूर्वक, विश्वासपूर्वक कह डालता है कि इससे अधिक जानने की जरूरत नहीं, यही सर्वोच्च

ज्ञान है। किन्तु 'सर्व्वोच्च ज्ञान' की विशदता के लिए एक कलाकार को सुन्दर या असुन्दर का भी विवेचन करना पड़ता है; अपनी अनुभूति द्वारा ग्राह्य और त्याज्य अंश का—सत्य-असत्य का भी निर्णय करना पड़ता है। इसलिए सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सत्य लोक-मङ्गल-कारीरूप से अनुभूत होता है, लोक की सौन्दर्य्योन्मुख प्रवृत्ति देखते हुए उसे ही सर्वाङ्ग-सुन्दर,-अधिक से अधिक आकर्षक बना देना कलाकारमात्र का कार्य्य (कला) है। दूसरे शब्दों में, लोक-मङ्गल-कारी किन्तु आपाततः नीरस एवं अप्रिय प्रतीत होनेवाले सत्य को भी सरस तथा सर्वप्रिय बना देना ही वास्तविक कला-कृति है। कला के उद्देश्य में ऐसी वि त्र भावना अत्यन्त आवश्यक है।

सौन्दर्य्य ईश्वर की उच्चतम विभूति, बल्कि निज का रूपाङ्कन है। वैसे उसका कोई निश्चित-सङ्कुचित स्थान नहीं, वह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है, जर्रे-जर्रे मे बिखरा हुआ। लहराती हुई नीलम-नील अनन्त जल-राशि और सूखे हुए उजाड़-सपाट मरु मैदान, दोनों ही सौन्दर्य्य-सृष्टि है। पतझर के मर्मर और मधुमास की बाँसुरी, दोनों ही में सुन्दर सङ्गीत है।

कहावत है कि भाग्यहीन को रत्नाकर में भी घोंघे ही मिलते हैं। सहस्ररश्मि के प्रकाश में भी उलूक नहीं देख सकता। ईश्वर की इस विमल विभूति —सौन्दर्य्य को भी हर आदमी नहीं देख पाता। इस अक्षमता में किसी दूसरे का दोष भी नहीं रहता।

सौन्दर्य्य स्वच्छ हृदय की एक पवित्र-उदात्त भावना है। अस्वच्छता, अपवित्रता ही असौन्दर्य्य की अविष्कर्त्री है। जहाँ कहीं भी मलिनता, गन्दगी या पाप है, वहाँ सौन्दर्य टिक नहीं सकता। रंगीन शीशे की खिड़की के भीतर से झाँकने पर बाहर रंगीनी ही रंगीनी मालूम पड़ती है। पवित्रता भी आत्मा की एक ऐसी ही दिव्य ज्योति है, जिसके भीतर से झाँकने पर सब ओर सौन्दर्य्य ही का भान होता है। इसलिए कहा है कि जिन

आँखों में 'वह रूप' बसा हो, उनसे और कुछ नहीं देखा जा सकता, क्योंकि तब विश्व में उस रूप के अलावा कुछ और दिखता ही नहीं।

पर प्यासे आदमी को प्यास बुझाने भर की चिन्ता रहती है, जल में शीतलता या स्वच्छता खोजने की नहीं। भोगी विलासी भी काम-पथ का प्यासा पथिक है। उसे तृप्ति के लिए वासना का स्वर्ण-कलस चाहिए, मिट्टी के सत्य-तत्त्व से निर्मित पवित्र तथा सुन्दर मङ्गल-घट नहीं। तुलसीदास को 'सियाराम मय सब जग' जान पड़ता था; हत्यारे मैकबेथ की आँखो में बैंको (Banquo) का भूत बसा हुआ था। युधिष्ठिर को कोई पापी नहीं मालूम पड़ता था, पर दुर्योधन की दृष्टि से सत्य-धर्म की सृष्टि गायब हो चुकी थी। जिन आँखो में धूल, गन्दगी भरी होगी, उनसे या तो कुछ नहीं दिखेगा या मलिनता ही मलिनता दीख पड़ेगी। कहना न होगा, सौन्दर्य्य को जी भर (पूर्णरूप से) देख सकने के लिए निष्कलुष दृष्टि ही की आवश्यकता है। यह तो सीधी सी बात है कि गन्दी आँखों से [अच्छाई] सौन्दर्य्य नहीं देखा जा सकता। सौन्दर्य्य-दर्शन की भी साधना होती है। शङ्कराचार्य्य ने सौन्दर्य्य-दर्शन के इस तत्त्व को कितनी सरस रीति से समझाया है—

"घृत-क्षीर-द्राक्षा-मधु-मधुरिमा कैरपि पदै
विशिष्यानाख्येयो भवति रसना-मात्र-विषयः
तथा ते सौन्दर्य्यं परम-शिव-दृङ्-मात्र-विषयः
कथंकारं ब्रूमः सकल-निगमागोचर-गुणे।"

कि 'दूध-घी अगूर-शहद किसी के भी माधुर्य्य (मिठास) को साफ-साफ बतला सकनेवाले शब्दों की एकदम ही कमी है। उसे तो बस चख कर मन ही मन जाना जा सकता है।—'ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावे।' ठीक उसी प्रकार आपके सौन्दर्य्य को भी केवल परम शिव ही देख सकते है, ऐ आगम-निगमों से भी अपने गुणों को छुपा रखनेवाली माँ ! मै उसका कैसे बखान करूं ?'

सौन्दर्य्य-दर्शन की सारी फिलॉसफी इसी—"**परम-शिव-दृश्‌-मात्र-विषयः**" में समाप्त हो जाती है। जिसकी दृष्टि 'शिव' नहीं है, वह किसी भी प्रकार सौन्दर्य्य-दर्शन नहीं कर सकता।

२

ब्रज के अधिकांश कवियों की दृष्टि वासना-कलुषित थी। उन्होंने वाष्प-मलिन मुकुर में उज्ज्वल कृष्ण की कृष्ण ही मूर्त्ति देखी। '**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**' कृष्ण की निजी उक्ति है। उनके काम-रूप से हमें घृणा नहीं होती, होती है धर्म-विरुद्ध काम-रूप से। यों धर्म की उटपटांग व्याख्या कर मुग्ध धार्मिक जनता को चाहे कोई बरगला ले, पर उस डंड-बैठक से शरीर के साथ-साथ बुद्धि की स्थूलता में भी निरन्तर वृद्धि होते रहने का भय रहेगा। व्रज-रज-रसिक चतुर आलोचकों की वृष्णी ने व्रज-वनिताओं को साहित्य-वन में अभिसार करने का मानो चिर आमन्त्रण दे रक्खा है।

मीरा ने जब प्रियतम के चारु चरण देखे तो वह उसे '**त्रिविध-ज्वाला-हरण**' दिखे, जब कि व्रज की रजभरी दृष्टिवाले बहुतेरे चितेरों को वह '**मदन-ज्वाला-सदन**' जान पड़े हैं। सौन्दर्य्य की ऐसी सृष्टि दूषित ही नहीं, पतित समझी जानी चाहिए।

इस विशाल विश्व में पूर्णब्रह्म का अस्तित्व भी निरुद्देश्य नहीं है। प्रकृति की महान से तुच्छ तक सारी वस्तुओं का कुछ न कुछ मतलब, कुछ न कुछ प्रयोजन है ही। फिर 'कला कला के लिए' कह कोई उसे निरुद्देश्य या अनावश्यक कैसे सिद्ध कर सकता है? क्योंकि 'कला कला के लिए' के भी कुछ मानी है। कलाकार जिस मौलिक सौन्दर्य्य की सृष्टि के लिए निरन्तर साधना करता रहता है, वह किसी और बाह्य प्रयोजन से अनृण या तुलनीय नहीं हो सकती। यहां आत्म-तृप्ति के अतिरिक्त लाभान्तर की कोई आशा नहीं। वह केवल कला के लिए ही कला की आराधना करता है। किन्तु, यदि उसकी सृष्टि कामकता

के कुछ गुप्त-प्रच्छन्न रूपों को, बारीकियों के भीतर से, विकसित करने वाली हो, तो समाज को पीछे धकेल कर आगे बढ़ती हुई ऐसी निस्सार कला को कूड़े की टोकरी में ठौर देते कृपणता करना अन्याय होगा।

३

हाँ तो, सौन्दर्य्य का सम्यक् परीक्षण करने के लिए पवित्र मानस और निष्कलुष दृष्टि की अपेक्षा है, जो केवल साधना ही से साध्य है। वैदिक काल के तपस्वी ऋषियो ने, ब्राह्म-मुहूर्त्त मे जगकर प्राची की ओर अपनी पावन दृष्टि फेरी, तो मनभावन उषा का सौन्दर्य्य दीख पड़ा। वह उषा की सौन्दर्य्य-सृष्टि साहित्य में अकेली है। ※ सौन्दर्य्य के सर्व श्रेष्ठ कवि कालिदास ने बहुत वर्षों की साधना के अन्त मे सौन्दर्य्य की एक सृष्टि की—'शकुन्तला'। स्वयं उन्हों ने उसे 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' कह कर साहित्य को भेंट किया। † साहित्य-गगन को जब तक ऐसे-ऐसे दिव्य सौन्दर्य्य की किरणें नहीं घेर लेतीं, उसे (साहित्य को) सत्य, शिव या सुन्दर कहना अत्युक्तिमात्र होगा। तुलसी और रवीन्द्रनाथ के द्वारा भारतीयसाहित्य की परम्परा अभीतक अक्षुण्ण रही है। आधुनिक हिन्दी में अभी भाव से अधिक अभाव है। फिर भी निराला, प्रसाद, पन्त एवं महादेवी के प्रयत्न प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं।

जुलाई '३८

※ "एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ॥"

† "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनामुक्तं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्'

अथवा

'अधरः किसलय रागः
कोमलविटपानुकारिणौ बाहू
कुसुममिव लोभनीयं

यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।'

से लेकर–

"वसने परिधूसरे वसाना

नियकक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।"

तक के उतार-चढ़ाववाली चेतना का नाम शकुन्तला है ।

तभी तो "गेटे" ने कहा है:——

Wouldst thou the young year's
blossoms and fruits of its decline,
And all by which the soul is
charmed, enraptured, feasted, fed;
Wouldst thou the earth and
heaven itself in one sole name Combine !
I name thee, O, Sakuntala !
and all at once is said.

साहित्य और धर्म

१

मैं यहाँ कुछ ऐसे बेरहमों की बात बता रहा हूँ, साहित्य और धर्म का सान्निध्य-सम्बन्ध देख कर जो बिना बूझे समझे झटपट बगल से छुरी निकालने लग जाते है, और (अपने विचार से) जब तक उस सम्बन्ध-सूत्र को वह काट नहीं लेते, साँस लेने तक की कसम खा जाते हैं ! ऐसे लोगों को मुँह की न खानी पड़ती हो, ऐसी बात नहीं; लेकिन उन्हें तो अपनी आदत न छोड़ने की आदत पड़ जाती है, वह करें भी तो क्या करें ?

कहते हैं, धर्म और ईश्वर की सत्ता मिटाए बिना 'आत्मोन्नति' नहीं की जा सकती, इसलिए विश्व-मानव-हृदय के प्रतिनिधि-स्वरूप साहित्य की चहारदीवारी से उन्हें (धर्म और ईश्वर को) निकाल देना निहायत जरूरी है; पर यह बात तो समझ में आती ही नहीं कि जिसमें ईश्वर या धर्म की कतई जरूरत नहीं समझी जाती, आखिर वह आत्मोन्नति ही कैसी होगी ? स्वयं 'आत्मोन्नति' शब्द ही अपने ऐसे अनर्थकारी अर्थों से बगावत किए हुए है। रस्किन ने लिखा है —

He only is advancing in life, whose heart is getting softer, whose blood warmer, whose brain quicker, whose spirit is entering into living peace कत्लेआम जारी रख कर, जबर्दस्ती दूसरे का हक हड़प कर आसमान तक ऊँचा आलीशान मकान बनवाना और लचकदार गलीचे पर गिलौरियों की जुगाली करते बैठे रहना, आत्मोन्नति का अर्थ तब तक नहीं हो सकता, जब तक साहित्य-लोक से वाल्मीकि-व्यास, रस्किन-टाल्स्टाय, सूर-तुलसी, ह्यूगो-रवीन्द्र आदि निर्वासित नहीं कर दिए जाते ! और चूँकि यह टेढ़ी खीर है, आत्मोन्नति का भी ऐसा ऊलजलूल मतलब नहीं हो सकता।

हम ईश्वर को साहित्य के सुन्दर मन्दिर में प्रतिष्ठित न करें, धर्म को हृदय के उच्च आसन पर आसीन न करें, तो करें क्या? साहित्य के स्वर्णिम द्वार पर पहुँच कर 'अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम्' के नारे लगाएँ? या विश्वामित्र की भाँति एक नये तामस स्वर्ग का निर्माण कर डालें—त्रिशङ्कु को आसमान में औंधे मुँह लटकाने के लिए? पर याद रहे, पशु-बल को सत्य की शक्ति के सामने झुकना पड़ेगा! शान्ति की चेतन नीरवता में सारा का सारा बड़बड़ाना-गड़गड़ाना बन्द हो जायगा। धर्म और ईश्वर का बागी कोई भी (साहित्यिक या राजनैतिक) स्वर्ग (उसे नरक कहना ही अधिक सत्य होगा) कभी नहीं टिक सकता।

ज्ञानचक्षु, त्रिकालदर्शी महर्षियों के चिरन्तन चिन्तन ने ईश्वर और धर्म को भलीभाँति निरखा-परखा और दुनिया को दिखलाया है, वह कोई भूलभूलैयाँ नहीं, साक्षात् सत्य, शिव और सुन्दर है। धर्म हमारे जीवन को पवित्र, स्वस्थ, संयमी (शिव तथा सुन्दर) बनाकर ईश्वर (सत्य) की ओर अग्रसर कर देता है। धर्म बन्धन का नहीं, मुक्ति का पथ है। हम ईश्वर ही को सत्य, ज्ञान और मुक्ति के नाम से पुकार रहे हैं। धर्म की मजबूत बुनियाद पर जीवन का गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा रह सकता है। चूँकि मजबूत है, कमजोरियों के शिकारों को 'धर्म' कर्कश, कठोर जान पड़ता है।

धर्म से हमारी स्वतन्त्रता नहीं नष्ट होती, नियन्त्रित हो जाती है उच्छृङ्खलता, जिसे नष्ट किए बिना हम अपने लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकते। लेकिन हमें आजादी का दीवाना बनना ज्यादा भाता है, इसलिए दीवानी उच्छृङ्खलता भी हमें अपनी विकसित प्रकृति ही प्रतीत होती है। दीवानेपन के सबब उच्छृङ्खलता और स्वतन्त्रता में कुछ अन्तर ही नहीं दीखता, यही अपराध है। जीवन में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण को विकसित करने के लिए धर्म की आवश्यकता है। रजस् और तमस्—काम-क्रोध, मोह-मद, आदि को

तिरोहित कर सत्त्व-देवत्व, त्याग, अनुराग, उदारता आदि की प्रतिष्ठा के लिए साहित्य में धर्म की आवश्यकता है।

धर्म मानो आदर्श गुरु है, हम सब उसके शिष्य। अच्छे काम करते समय वह हमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं देता। किन्तु अज्ञानवश जब हम पथ-भ्रष्ट होने लगते हैं, वह हमें रोकता है, अङ्कुश बन कर मना करता है। कितना अच्छा है वह! इस प्रकार यदि हम विनयी हैं, तो सदैव निरङ्कुश हैं; हमारा हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं है:—

"इह विरचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः"

किन्तु यदि हम उच्छृङ्खल बनने, गड्ढे में गिरने को तैयार हैं तो भी धर्म के अलावा हमें और कौन बचा सकता है? और चाहे जो हो, धर्म हमें पतित नहीं होने दे सकता। इसे ही जब साहित्य के भीतर प्रतिष्ठित किया जायगा, तो वह साहित्य भी हमें हमेशा ऊँचा ही उठावेगा। इसीलिए साहित्य में धर्म की प्रतिष्ठा अवश्य होनी चाहिए। हम वैसा साहित्य पढ़ कर क्या करेंगे, जिससे सुप्त-लुप्त वासनाएँ जागरित हो जाती हैं, हमें कुप्रवृत्तियों की प्रेरणाएँ मिलती है?

"Life of my life, I shall ever try to keep my body pure, knowing that thy living touch is upon all my limbs.

× × × ×

And it shall be my endeavour to reveal thee in my actions, knowing it is thy power gives me strength to act."

मेरे प्राणों के प्राण! मैं अपनी काया को चिर-पवित्र बनाए रखने

को सतत प्रयत्न करूँगा, यह जानते हुए कि मेरी समग्र जड़ इन्द्रियों को आपका ही चेतन-स्पर्श प्राप्त है। (फिर, जिसे स्वयं 'आप' छुते हों, उसे गंदा कैसे रहने दूँगा ?) और, मैं अपने कर्म मात्र में आपको ही प्रकट करते रहने को अपना चरम कर्त्तव्य मानूँगा, यह जानते हुए कि मुझे आपसे ही कर्म करने की शक्ति प्राप्त होती है। फिर 'आपसे' प्रेरित कर्म-शक्ति को किसी कलुषित आचरण में कैसे लगाऊँगा ?)

यह है साहित्य में धर्म की प्रतिष्ठा ऐसा साहित्य पढ़ कर एक बार ही हृदय द्रुत हो जाता है, ऐसी दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, जिसमें तन-मन की थकान और बेचैनी एक बार ही विलीन हो जाती है।

२

तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि साहित्य-जगत में केवल धार्मिकता की दुन्दुभि बजाई जाय, कभी किसी भी प्रकार की क्रान्तियाँ हों ही नहीं! क्रान्तियाँ अवश्य हों, पर उनका उद्देश्य विकल विश्व में शान्ति की स्थापना हो, केवल आँधी, तूफान, बवंडर का आवाहन कर प्रशान्त तृण-तरु-गुल्मों को झकझोर देना, अस्तव्यस्त, छिन्न-भिन्न, नष्ट-भ्रष्ट कर देना नहीं। महारुद्र से ताण्डव के लिए अवश्य अनुनय-विनय हो, पर केवल इसीलिए नहीं कि—

'घहरें प्रलय-पयोद गगन में
अन्ध धूम हो व्याप्त भुवन में
बरसे आग, बहे झंझानिल
मचे त्राहि जग के आँगन में
फटे अतल पाताल, धँसे जग,
उछल-उछल कूदें भूधर!

वल्कि इसलिए भी कि—

रच दो फिर से इसे विधाता,
तुम शिव, सत्य और सुन्दर!'

कहने का तात्पर्य्य यह कि जो भी सत्य, शिव, सुन्दर होगा वह धर्म से, ईश्वर से शून्य रह ही नहीं सकता। इस प्रकार हम देखेंगे कि सम्पूर्ण क्रान्तियों के भीतर से एक ही सत्य पुकार रहा है, नैतिकता को तरह देने के लिए कोई तैयार नहीं है। क्रान्ति का सत्य स्वरूप यही है।

इसलिए कुछ बाजारू कलाकार, जो आज मौसम के समय मड़ियों मे गाजर-मूली का ढेर लगाने में खून-पसीना एक कर रहे हैं, ऋतुपरिवर्तन होते ही हवा हो जायँगे। यह ठीक है कि "जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी कीजै" की नीति आज उनके लिए सफल सिद्ध हो रही है, और वही कला-जगत् के सर्वेसर्वा माने जा रहे हैं। फिर यह 'वैज्ञानिक' युग भी विज्ञापन का युग है—बाजार की ऊँची-ऊँची दीवारों पर उनके 'उप'-नामों के बड़े-बड़े साइनबोर्ड और पोष्टर लटकाए गए हैं, सब ओर उन्हीं की धूम है। पर फिर भी सत्य की विजय ध्रुव है, यह—'कनवासिग' और 'वोटिंग' द्वारा प्राप्त सफलता कदापि स्थायी नहीं हो सकती।

इस धमाचौकड़ी से, जितनी भी खराबियाँ हो सकती थीं, हो रही हैं, और सब से बुरी बात तो यह हो रही है कि वृहन्नला बनने के भय से अर्जुन भी उर्वशी के सौन्दर्य्य पर रीझने लगे हैं। पाँचवे सवार को घुड़दौड़ में आगे आते देख चार बेचारे खुद दुलकी दौड़ने लगे हैं। घुन और गेहूँ का यह साथ-साथ पीसा जाना ही बड़ा बुरा है।

साहित्य में धर्म अनादि काल से रहा है और वह अनन्त काल तक रहेगा भी। इतिहास इसका साक्षी है। बाल्मीकि और व्यास से ही नहीं, इधर कबीर से कवीन्द्र तक भी भारत में महाकवियों की जो परम्परा चली आई है, साहित्य में धर्म को सस्थापित करती हुई सुप्रतिष्ठित हुई है। हम बार-बार **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** की याद करते है; कहते हैं, 'स्वयम्भू' कवि है, फलतः 'कवि' भी तो 'स्वयम्भू' ही है। हम यह भी कहा करते हैं कि **'धर्मसंस्थापनार्थाय**

सम्भवामि युगे-युगे', तो फिर इसमें आश्चर्य्य ही क्या है कि कवि भी साहित्य में धर्म की संस्थापना के लिए ही पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है। हम साहित्य और धर्म के ऐसे सहज सम्बन्ध को पृथक् कर देने की कैसे सोच लेते हैं ?

जुलाई '३८



साहित्य और राजनीति

इधर साहित्य और राजनीति को एकाकार करने के लिए आमतौर से जो शोरगुल, चीख-पुकार या हाय-तोबा मचाया जाता रहा है, गज-गामी साहित्यिक उसे 'भूकें श्वान हजार' समझ कर, मन्द-मन्थर गति से, चुपचाप अनन्त की ओर बढ़ते जाना पसन्द करते रहे हैं। यदि कोई अल्हड़-अक्खड़ आलोचक दहाड़ कर उनके गन्तव्य स्थान के बारे में कुछ सवाल पेश कर डालता है—तो खुदा खैर करे, बेचारे की जान जोखिम में न पड़े; क्योंकि चिग्घाड़ने वाले झुंड-के-झुंड, गिनती में कम थोड़े हैं? फिर राजनीतिज्ञों को जब 'साहित्य' शब्द के धातु-प्रत्यय तक का ज्ञान नहीं, तब बिहारी और पद्माकर की पतली-पतली पोथियाँ बगल में दाब कर 'रस-कलस' छलकाने या 'उद्धव-शतक' सुनाने वाले प्रथम श्रेणी के साहित्यिक उनकी आवाज या आवाजे की कुछ भी परवा करना चाहेंगे? इसलिए अपने अस्तित्व का सबूत जुगो रखने के लिए जिसे राजनीति का रोना रोते रहना पसन्द हो, उसे साहित्यारण्य से बढ़िया जगह ढूँढने पर भी नहीं मिलेगी।

यह 'साहित्यारण्य' शब्द घटाकाश, मठाकाश की तरह केवल (दार्शनिक?) शब्द मात्र नहीं है, इसमें प्रभावशाली भाव है जो निहायत सीधा-सादा, चिकना-चुपड़ा है। मैं लक्ष्यहीन, खुदाई साहित्य को, जो रोज-रोज ढाक के पौदों की तरह बगैर सिचाई-सफाई के बढ़ता,—घना होता जाता हो, अरण्य कहना समुचित समझता हूँ। राजनैतिक उपयोगितावाद की चोखी कैंची से काट-छाँट कर जबतक उसे बाकायदा बाग नहीं बना दिया जाता, उसमें बेमौके झाड़-झंखाड़, तीतर-बटेर की कमी हो कैसे सकती है? कुछ प्रकृतिप्रिय चक्षुःश्रवा लोग तो तीतर की 'किरकोकों' सुनते रहना इसलिए पसन्द करते है कि कभी-कभी बहार के वक्त कोयल की कूक और सावनी समाँ के समय पपीहे की पुकार भी

सुनाई पड़ जाती है, आखिर जंगल ही तो ठहरा, कभी बन्दरों के साथ हिरनों का, और तीतरों के साथ मोरों का मिलना गैरमुमकिन तो कहा नहीं जा सकता। पर, इस तरह कम्बल के खयाल से भालू के फन्दे में फँसना कहाँ तक ठीक हो सकता है, वही जानें। बेवजह रजनी की अलकों और सजनी की पलकों के बींच बिचकते हुए त्रिशंकु साहित्य को महज झाड़ों का जंगल कहना ही ठीक होगा। यों दामन थाम लेने वाले खारों को गुलों से बेहतर बतलाने वालों को जतलाया जा सकता है कि राजनीति को पचा लेने की ताकत साहित्य के चौबे लोगों में होनी ही चाहिए, तभी उसके उदार उदर में विशाल विश्व का विलोकन किया जा सकेगा, पर पिंजड़े में पली तूती की टें-टें-जैसी यह ऐसी आवाज बाज-बाज दफा मुँह के सींकचों के पार भी नहीं पहुँच पाती! इसकी वजह यह है कि साहित्य की मथुरा में कुछ दुमंजली तोंद वाले चौबे ही चौबे तो हैं नहीं, जिनका हाल मुफ्त का माल लूट-खसोट कर खाना और दाँत निपोर कर पचा डालना होता है, बल्कि सब से कम नम्बर इन्हीं का होगा। साहित्य के सर्जन और पालन का सारा भार सिद्ध-साधकों, निश्छल तपस्वियों पर रहता है और आज भी ऐसे लोगों की एकदम कमी नहीं है। इन्हें ही नाहक कतर-व्योंत पसन्द नहीं। यही वन को सपाट मैदान बना देने में आना कानी करते हैं। इन्हें विश्वास है कि तपःप्रभाव से ये वन को तपोवन बना डालेंगे, मैदान को फिर पार्क के रूप में परिवर्त्तित करने में व्यर्थ ही खून-पसीना एक करना पड़ेगा। और यह तो स्पष्ट ही है कि उजाड़ मैदान में खजाना नही जमा किया जा सकेगा, उसकी रखवाली नहीं की जा सकेगी। राजनीति की खूनी जमीन में साहित्य की तपःसाधना नहीं हो सकेगी।

यह दूसरी बात है कि शंख के समय बाँसुरी न बजाई जाय; बिगुल के वक्त पियानो को बन्द कर चल दिया जाय; आज के अशान्त

वातावरण में सूर और मीरा के पद न गाए जायँ, और कविता को तलाक देकर राजनीति को वरण कर लिया जाय! पर, खुदा के वास्ते नव-सिखुओं को बरगलाने की बेरहमी भी न की जाय; रंगीन कागज की कतरनों को पारिजात की पखुड़ियाँ कहने की बेइंसाफी भी न हो, भोंपू आवाज को संगीत का सरस पंचम स्वर भी न करार दिया जाय और 'जय निशान, जय जय किसान' को सत्साहित्य का सेहरा भी न पिन्हाया जाय—यह फरियाद तो पहुँचाई जा सकती है मेहरबान आसमान तक?

२

आज दिन साहित्य और राजनीति के युगल पुलिनों के बीच से यही भाव-धारा प्रवाहित हो रही है। अवश्य इसमें दोनों पुलिनों को डुबोकर एकरसता स्थापित करने की स्वाभाविक शक्ति नहीं जान पड़ती, यानी—इसमें अभी कभी उमड़ कर बाढ़ नहीं आई। राजनीति लोक-जीवन से सटकर अपनी अच्छाई-सच्चाई की डींग हांकती है; साहित्य लोक और जीवन से ऊपर उठकर अपनी उदात्त उच्चता के आभास-स्वरूप अरूप आकाश में सोने-चाँदी की स्निग्ध प्रकाश रम्य-रेखाएँ अंकित कर देता है। दोनों में थोड़ा-बहुत नहीं, बाकायदा, बाहिसाब, आसमान और जमीन का फर्क दीख रहा है। 'सान्ध्य-गीत' और 'रोटी का राग' में सामंजस्य की एकदम गुंजाइश नहीं।

तो क्या साहित्य की सीता को राजनीति की अशोक-वाटिका में पहुँचा देना रावण का कुकृत्य होगा? यह भी कि त्रिजटा और सरमा की सुव्यवस्था के अलावा वहाँ पवन-पुत्र प्रवेश कर युग के अभिनव निर्माण का काम अविराम रखने की गतिशील चेष्टा करेंगे—कोरी मृग-तृष्णा कही जायगी? फिर अभी से कैकेयी और मन्थरा की जोड़ी अगर थोड़ी भी मदद न देगी तो राम का अभिराम चरित्र-चित्र किस पार्श्व-भूमि की बदौलत सजीव जान पड़ेगा? पवित्र रामायण की रचना किस आदर्श पर होगी? और निःस्व विश्व को रत्नगर्भ रामायण से

वंचित रखना क्या पाप संचित करना नहीं कहा जायगा ?

हमें साहित्य के भीतर से विश्व-शांति का सन्देश सुनाना है; विश्व-बन्धुत्व की भावना जागरित करनी है; विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाना है,—इस तरह राजनीति को तरह देने से कैसे काम चलेगा ? आज के समाज को राजनीति अपनी विपुल-विशाल भुजाओं में बाँधे हुए है; आज का लोक-जीवन राजनीति के आलोक में अँगड़ाइयाँ ले रहा है, तो साहित्य राजनीति के साथ-साथ समाज और जीवन की कटु उपेक्षा कर कबतक आसमान में सुफेद-रंगीन बादल बना उमड़ता-घुमड़ता चलेगा ? हम साहित्य को सरस स्वर्ग से घसीट कर समाज या राजनीति के बराबर सूखी मिट्टी पर आसन देना नहीं चाह रहे, पर क्या समाज या राजनीति उस दूर-देश-वासी आत्मीय की आस तक तज दे ? क्या अपनी आन्तरिक दुर्दशा दिखलाने के लिए उसे आमन्त्रण न दे, ऐसा कैसे होगा ? फिर समाज या राजनीति के प्रति इतनी घृणा भी क्यों कर ? क्या साहित्य इसीलिए ऊँचा है कि उसके मुकाबले समाज या राजनीति निम्न स्तर पर है ? और साहित्य का सिर ऊँचा रखने के लिए उसे हमेशा नीचे रहना ही चाहिए ? यदि यही बात सच हो, तो भी बुनियाद की मजबूती के लिए; पनपने, फैलने और लहलहाने के लिए साहित्य को समाज और राजनीति के साथ समझौता करना ही होगा, अन्यथा अमरबेल की भाँति बगैर बुनियाद का साहित्य केवल कुछ कँटीले झाड़ों,—बेर बबूलों पर फैला-उलझा अपने ही आप अपने निकम्मेपन का इजहार देता रहेगा।

जीवन-समुद्र के अजस्र मन्थन के पश्चात् निकली हुई मंगलमयी श्री का ही नाम तो साहित्य है। अपने स्वच्छ आदर्श हृदय-पटल पर समाज की बहुरंगी सत्य छवि का अंकन कर लेनेवाला ही तो साहित्य है। फिर साहित्य के पारदर्शी वातायन से यदि जीवन की बाँकी झाँकी न मिली तो उसे (साहित्य को) लौह-कपाट कहना अधिक उपयुक्त

होगा। यही हाल राजनीति का है। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि आजतक राजनीति ने किस तरह साहित्य का साथ दिया। मेरा यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि साहित्य अनुरञ्जक होने के कारण राजनीतिक मत-मतान्तरों के प्रकाश-प्रचार का माध्यम है, या जो राष्ट्र आज अपने सिद्धान्तों के प्रसारार्थ साहित्य प्रकाशित कर रहा है, वही उचित पथ पर पाँव रक्खे हुए है, पर पिछले सब समय के साहित्य पर, राजनीति की कैसी साफ छाप पड़ी हुई है, इस तथ्य की अवहेलना भी न करनी चाहिए। इसलिए जीवन और समाज से साक्षात् (भौतिक) सम्बन्ध स्थापित करने वाली राजनीति और मानसिक (अध्यात्मिक) सहज सम्बन्ध रखने वाले साहित्य में विरोध से अधिक स्वाभाविक एकता ही दृष्टिगत होती है। दूसरे शब्दों में समाज या राजनीति सञ्चालित जीवन को पूरी तरह अपनाने, पचाने पर ही साहित्य के शरीर तथा आत्मा को जीवित प्रौढ़ि, तथा सुन्दर स्वस्थता प्राप्त होती है। हिन्दी के अत्याधुनिक साहित्य के अन्तराल में अन्तर्हित दयनीय दुर्बलता का रहस्यमय हेतु यही अस्वस्थ एकाङ्गिता है।

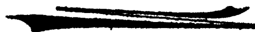
स्वर्ग में सुरभित सुख-शय्या पर सोए हुए साहित्यकों से, नितान्त अशान्त वर्तमान विशाक्त वातावरण से विकल-व्याकुल त्रस्त-ध्वस्त, क्षुद्र-दरिद्र समाज, आज जैसे साश्रु, सांजलि यही निवेदन कर रहा है—

"बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार
बड़ोइ दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।
अन्न चाइ, प्राण चाइ, आलो चाइ, चाइ मुक्त वायु,
चाइ बल, चाइ स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस-विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य-माझारे, कवि,
एकबार निये एसो स्वर्ग हते विश्वासेर छवि।"

बहुत कष्ट है, बड़ी बेचैनी है, जहाँ कहीं भी नजर जाती है— संसार में सब कहीं दुख ही दुख दीख पड़ता है। सब ओर दरिद्रता,

सूनापन, ओछापन और अँधेरा ही भरा हुआ है। इस विपन्न विश्व को अन्न चाहिए, प्राण चाहिए, प्रकाश चाहिए, उन्मुक्त, स्वच्छ वातावरण चाहिए, बल, स्वास्थ्य, खुशियों से भरी हुई लम्बी उम्र चाहिए, और चाहिए हिम्मत से भरी उभरी चौड़ी छाती। मेरे कवि! स्वर्ग से विश्वास की छवि लेकर एकबार दुनिया की इस ऐसी गरीबी के बीच उतर आओ।

जुलाई '३८



कवि : उसकी कला

भौंरा फूल के चारों ओर तभी तक चक्कर काटता, गुंजार करता रहता है, जबतक उसे मकरन्द नहीं मिलता। मकरन्द की गन्ध मिलते ही वह सीधे फूल के दल में पैठता और चुपचाप मधुपान करने में तन्मय हो जाता है। काव्य का स्वरूप-निरूपण, तारतम्य व्यवस्थापन, वर्गीकरण आदि समस्त प्रक्रियाएँ उसके आन्तर रस-सुख की प्राप्ति से पहले की अवस्थाएँ है। काव्य सुधा का स्वाद मिलते ही गर्जन-तर्जन, नियम-अनुशासन, भेद-भाव सब की सुध जाती रहती है। रसास्वाद ही काव्य का सच्चा दर्शन है।

दूसरे शब्दों में—काव्यामृतपान के समय न तो उद्भट मम्मट के काव्य-लक्षणों का अनुसन्धान होता है और न मैथ्यू आर्नल्ड या कार्लाइल के। 'लक्ष्य'-प्राप्ति के पश्चात् 'लक्षण'-गवेषणा की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसलिए जो कोई काव्य की ऊँचाई-नीचाई की आलोचना मे ही व्यस्त रह जाता और उसकी सहज रस-श्री की तरफ तनिक ताकता भी नहीं, कहना चाहिए, वह देव की नहीं, पाषाण प्रतिमा की पूजा करता है।

काव्य की आलोचना, उसके सम्मिलित सौन्दर्य्य को रेखाओ मे विभाजित करना, उसके अलङ्कार और ध्वनि का छोटा-मोटा 'कैटलाग' तैयार कर लेना नहीं। सुरभि और सुन्दरता की खान—गुलाब का अन्तर्दर्शन, उसकी पंखड़ियों को तोड़-मरोड़ कर 'वैज्ञानिक' परीक्षण कभी भी नहीं हो सकता।

गुलाब में सौरभ और केवड़े में भी सौरभ; गुलाब में कॉटे और केवड़े में भी कॉटे; ऐसे सादृश्य, और, गुलाब में रङ्गीनी और केवड़े में सादगी; गुलाब मे आह्लादकता और केवड़े में मादकता; ऐसे वैसादृश्य

का प्रदर्शन कर दोनों के लिए की जानेवाली 'पहली' और 'दूसरी' कक्षा की विवेचना, 'तीसरी' कक्षा की विवेचना है।

खिला गुलाब देख दिलका खिल उठना ही उसका सच्चा दर्शन है। केवड़े की खुशबू से मस्ती में भर कर सिहर उठना ही उसकी खुशबू मिलने का सबसे बड़ा सुबूत है। उसकी रूप-रेखा, आकार-प्रकार की वृथा-विपुल वर्णना में बहुत देर तक बड़बड़ाते रहना नहीं।

लेकिन एक बात है। 'अपने ही दरवाजे' पर पहुँचने के लिए यात्री को हर दरवाजा खटखटाना पड़ता है। अन्ततः अपने ही अन्तः-प्रदेश में प्रवेश प्राप्त करने के लिए दुनिया भर की खाक छाननी पड़ती है—

"The traveller has to knock at every alien door to come to his own, and one has to wander through all the outer worlds to reach the innermost shrine at the end."

जिसका लक्ष्य तैरना सीखना होता है, उसे कई-कई रोज तक पानी पर जैसे-तैसे लेट कर हाथ-पैर पटकना पड़ता है। और यही कारण है कि काव्य में रसानुभूति के चरम साध्य होने पर भी, उस काष्ठा पर पहुँचने के लिए सभी बाह्य प्रक्रियाओं से क्रमशः परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक-सा हो जाता है।

अगर ऐसा न होता तो विश्व के सम्पूर्ण शास्त्र निष्फल हो जाते। जिसे केवल 'सत्य' का ज्ञान अभीष्ट होता, वह क्यों शङ्कर और रामानुज, प्लेटो और कैंट के चक्कर में पड़ने जाता? जिसे सिर्फ रसानुभूति से मतलब होता वह क्योंकर कुछ काल के लिए ही सही, अपने को 'ध्वन्यालोक' और 'सौन्दर्य्य शास्त्र' के हाथो सौंपता?

लेकिन, पहली सीढ़ी पर पैर रक्खे बिना आखिरी सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता, इसलिए इच्छा न रहने पर भी पहली सीढ़ी पर लड़-

खड़ाते पैर को दाबना ही पड़ता है। और हमारे तमाम रीति-शास्त्र, अलङ्कार शास्त्रयहीं चरितार्थ होते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह कि काव्य-बोध से हमें रस-बोध, सौन्दर्यानुभूति ही समझनी चाहिए, किन्तु इसीलिए वाह्य विवेचन को बाद देकर नहीं चला जा सकता।

ऐसा कहते समय मैं वाह्य-विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर संकेत नहीं कर रहा। हालाँकि 'बाहर' कहने से 'भीतर' ही से पृथग्भाव की ध्वनि होती है और 'भीतर' भी 'बाहर' ही से बाहर होने की बात बतलाता है। संक्षेप में बाह्य शब्द स्थूल का बोध करता है और आभ्यन्तर शब्द सूक्ष्म का। बाह्य शब्द जड़ अंश की ओर संकेत करता है और आभ्यन्तर शब्द चेतन अंश की ओर। और यह स्थूल या सूक्ष्म शब्द परस्परापेक्षी होने पर भी बहुत बड़े विभेद को व्यक्त करता है जैसे तम और प्रकाश।

किन्तु काव्य के विषय में स्थूल तथा सूक्ष्म का क्रमिक ज्ञान आवश्यक नहीं कहा जा सकता। बल्कि स्थूल से दूरस्थित काव्य ही काव्य है। मेरा मतलब, परिभाषा के पीछे पागल न होकर सहज-सहज पग रख कर कवि के हृदय कण्ठ से निकला हुआ साफ स्वर ही अधिक सुन्दर काव्य है। अधिक सुन्दर इसलिए कि उसमें अनुप्रास के लिए प्रयास नहीं रहता, वह अनायास अपने उतार-चढ़ाव को पहचानता हुआ चलता है; उसमें सङ्गीत-शास्त्र का निर्वाह नहीं, कोयल और बुलबुल के मधुर सुर का प्राकृतिक प्रवाह होता है; उसमें राजोद्यान की काँट-छाँट, सफाई-सिंचाई नहीं, पावस-रस-सिक्त कानन की कमनीयता रहती है, जब भी कालिदास के शब्दों में यह कहने का पर्य्याप्त अवकाश रहता है कि—"**दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।**'

(क) **"तोमरा ये बल श्याम मधुपुरे याइवेन,**

कोन पथे बन्धु पलाइबे,

ए बुक चिरिया यवे, बाहिर करिया दिब,
तबे श्याम मधुपुरे यावे !"

"तुम जो कहती हो कि 'श्याम मथुरा जायँगे, श्याम मथुरा जायँगे' सो मेरी तो समझ में नहीं आता ! आखिर वह किस रास्ते से निकलेंगे ? जब मैं अपना कलेजा चीर कर उन्हें बाहर निकालूँगी, सखी, तभी तो वह मथुरा जा सकेंगे !"

(ख) **"गोकुल-नगर-माझे, आर ये रमणी आछे,**
ताहे केन ना पड़िल बाधा,
निरमल कुलखानि, यतने रेखेछि आमि,
बाँशी केन बले राधा राधा !"

इस गोकुल में तो और भी कितनी-कितनी रमणियाँ हैं, पर उन्हें कोई असुविधा नहीं; सब भले-भले रह रही हैं ! हाय रे, मैं तो अबतक पूरी चौकसी से अपने कुल की निर्मलता बचाती आई हूँ,—फिर यह बाँसुरी 'राधा-राधा' ही क्यों पुकार रही है ?

'चण्डीदास' की यह 'पुरबैया' सी कविता किस प्रकार मन-प्राणों को छूती है, सिहरा देती है, बतलाने की बात नहीं। इस सादगी पर हजार बार रङ्गीनी न्योछावर है। इसे ही मैं स्थूल से दूरस्थित काव्य कह रहा हूँ। यहाँ शरीर है ही नहीं, जिसके सुडौलपन या सुन्दरता की जाँच-पड़ताल की जाय। यहाँ तो केवल प्राण है; केवल पुलक है। जैसे अशरीर समीर हमें छू लेती हो, हम उसे नयनों से नहीं निहार सकते !

(ग) "Fair Daffodils, we weep to see
You haste away so soon;
As yet the early rising sun
Has not attained his noon
Stay, stay,

Until the hasting day
Has run
But to the even-song;
And, having pray'd together, we
Will go with you along."

"प्रिय 'डेफोडिल'! हमारी आँखें यह देखते हुए बार-बार भर-भर आती, छलकी पड़ती हैं कि आखिर तुम इतनी जल्दी कर रहे हो! अरे, अभी तो सुबह का निकला सूरज दुपहर तक भी नहीं पहुँच पाया है। ठहरो, ठहरो! इस बेतहाश उड़े जाते हुए दिन को कम-से-कम सान्ध्य-सङ्गीत तो समाप्त कर लेने दो। और फिर? फिर तो सान्ध्य-स्तुति के पूर्ण होते ही हम भी तुम्हारे ही साथ चले चलेंगे।

यहाँ उपमा और रूपक किस प्रकार 'भावोद्गार' के गले का हार हो रहे हैं, अलङ्कारों की चमक-दमक से दूर हुए कविवर 'हेरिक' से कोई पूछ देखे।

यों तो मानसिक स्फूर्ति रहने पर काव्य-शरीर स्वयं स्वस्थ मालूम पड़ता है, परन्तु प्राण की पहचान पा लेने के बाद तो पञ्चतत्वों पर आँखें टिकतीं ही नहीं। लेकिन राज-कवि भी कवि ही होता है! उसके काव्य में जो बारीकी रहती है, सौन्दर्य्य की एक-एक रेखा के अङ्कन में जो सावधानता रहती है, उसकी भी कम प्रशंसा नहीं की जा सकती। क्योंकि उसमें कम आकर्षण नहीं रहता; मनःप्रसाद के कम साधन नहीं रहते। भला ऐसा रह भी कैसे सकता, जबकि उसके निर्माता का ध्यान सबसे अधिक इसी अभाव के अपसारण में लगा रहता है।

तो स्थूल रूप से हम काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। एक वह जिससे दिल की कली खिल उठती है; दूसरा वह जो बेसुध बना

देता है। एक को सुनकर मुँह से बरबस 'वाह' निकल पड़ता है; दूसरा सुनने के बाद ओष्ठ-स्फुरण स्थिर हो जाता है, कुछ कह कर अपना आह्लाद प्रकट करने की शक्ति नहीं रह जाती। पहला राजकवि का काव्य है; दूसरा कवि का। पहले को हम राजसदन की सुषमा कह सकते है तो दूसरे को तपोवन-आश्रम की श्री। पहले को सुरम्य सरोवर का सलिल कहा जा सकता है तो दूसरे को झरने का बहता पानी।

पहले में कल्पना का चमत्कार रहता है; दूसरे में अनुभूति की विभूति। पहले में कारीगरी रहती है, दूसरे में रस। निश्चय ही जिसे हम विश्व कवि कहते हैं, उसके काव्य में प्रायः दोनों 'उपकरणों' का सम सन्तुलन हुआ करता है। उस अपार पारावार में तो जाने कितने झरने, कितनी सरिताएँ स्वयं सम्मिलित हो जाया करती हैं। जैसे कालिदास सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के विकसित शतदल पर अपनी स्वर्ण-वर्ण किरणें छिटकाए हुए हैं, सूर-तुलसी ब्रज-अवधी के अशेष साहित्य पर अपना आसन जमाए हुए हैं, शेक्सपियर और रविन्द्रनाथ क्रमशः अंग्रेजी और बंगला के विस्तृत साहित्य को घेर कर बैठे हुए हैं। यहाँ मैं महा कवियों का प्रसङ्ग तो उठा ही नहीं रहा, क्योंकि वे साहित्य में अत्यन्त विरल है। रविन्द्रनाथ के कथनानुसार, जिसे मैं भी निश्चित रूप से मानता हूँ, अबतक चार ही महाकवि हुए है—बाल्मीकि, व्यास, होमर और दान्ते। यों, तुलसीदास को भी पाँचवाँ स्थान दिया जा सकता है, किन्तु उसी प्रकार, जिस प्रकार अवतार को भी साक्षात् ब्रह्म कहा जाता है।

विश्व-साहित्य के इतिहास में महाकवि (वाल्मीकि-व्यास-जैसे) ही नहीं, विश्वकवि भी (कालिदास रविन्द्रनाथ-जैसे) बहुत कम हैं, तभी उनकी विशेष महत्ता है, शाश्वत सत्ता है। वह 'सूक्ष्म' हैं, इसलिए 'स्थूल' विभाग के अन्तर्गत उन्हें नहीं लिया। किन्तु, जिन्हें केवल कवि कहा है, वह मेरे विचार से मीरा, चण्डीदास, कबीरदास-

जैसे होते हैं। उनमें कला की चारुता नहीं, सहज भावोद्गारों का आवेग होता है। और जो 'राजकवि' कहलाने के योग्य हैं, उनमें केशव-बिहारी, माघ-श्रीहर्ष जैसों की गणना होनी चाहिए। क्योंकि उनमें 'सहज' नामक कोई गुण-विशेष प्रायः नहीं रहता, हाँ 'निर्माण' में वे अपना सानी नहीं रखते।

"अमिय हलाहल-मद-भरे श्वेत-श्याम-रतनार,
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इकबार।
× × × ×
नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल,
अली कली ही तें बिंध्यौ, आगे कौन हवाल!"
× × × ×
जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ बहै उमहै वह बेनी
त्यों 'पद्माकर' हीर के हारनि गंग-तरंगन कों सुखदैनी
पायन के रँग सों रँगि जाति-सी भाँति ही भाँति सरस्वतीसेनी
पैरै जहाँई-जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होति त्रिबेनी।

उच्च कोटि का निर्माण है। इसमें उतनी मार्मिकता नहीं, जितनी चारुता है, चमत्कार है। विश्व के साहित्य में इसी कोटि के कवियों की सङ्ख्या सर्वाधिक है। ऐसे ही काव्य के रस-स्तर तक पहुँचने के लिए बाह्य विवेक आवश्यक सा होता है।

कल्पना (सौन्दर्य) और अनुभूति (रस) को जहाँ मैंने काव्य का 'उपकरण' कहा है, वहाँ मेरा अभिप्राय भी समझ लेना होगा। 'उपकरण' शब्द जरा मोटा मालूम पड़ता है—ऐसा, जैसे कल्पना या अनुभूति कोई श्रम-प्राप्य बाह्य वस्तु हो, जिसे कहीं से उठा लाने से झटपट विश्वकवि बन जाने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह उतनी सस्ती चीज नहीं। वह सबको नहीं मिल सकती, नहीं मिलती। इसीलिए 'कवि' होना स्व-साध्य

नहीं है। मिहनत-मजूरी का जोर वहां कामयाब नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। हो सकता तो संसार में कवि की कोई कीमत ही नहीं रह जाती। और यदि ऐसा होता तो शायद कोष में भी कवि शब्द को स्थान नहीं मिलता।

मैं कहता हूँ कि कल्पना या अनुभूति की साधना नहीं होती। वह रक्त और मांस में मिलकर प्राकृतिक रूप से आई हुई शक्ति है। मनुष्य परिश्रम से सम्भवतः दार्शनिक, वैज्ञानिक हो सकता है, पर कवि कदापि नहीं।* नियमित व्यायाम के द्वारा स्वास्थ्य-सौन्दर्य—शरीर का सुडौलपन प्राप्त किया जा सकता है, पर रूप नहीं, लावण्य नहीं। व्यापार से 'दौलत' बढ़ सकती है, पर 'श्री' नहीं। मै तो कहता हूँ कि लगातार पुजते पुजते पत्थर चाहे देवता हो जाय, पर मरते-मरते भी मनुष्य अपनी तरफ से कवि नहीं हो सकता।

जैसे लोक-मंगल की कामना से ईश्वर मनुष्य बन जाता है, मनुष्य बनकर मनुष्यता के उखड़ते हुए पॉव को, मलिन होते हुए आदर्श को फिर से जमाता, चमचम चमका देता है, उसी प्रकार कवि का भी अवतार होता है। अवतार का अर्थ है – नीचे उतरना विश्व-कल्याण की कमनीय कामना से सब में मिलकर, सबको आगे ले चलने के लिए, अपने महत्पद का परित्याग कर देना। विश्व की रूक्षता को दूर करने, असार कहे जाने वाले संसार में रस-सौन्दर्य का सार दिखला कर मानव-जीवन के दुर्वह भार को हल्का करने, सात्विक प्रवृत्तियों की सुकुमार श्री-सुषमा के सहज प्रचार-प्रसार द्वारा उच्छृङ्खल, क्रूर-कुत्सित पाशविक मनोभावों के आवेग को श्लथ-शिथिल कर मानव के उच्च आदर्श को श्लाघ्य, एवं सर्वाङ्ग-सुन्दर जीवन के ढीले ढाँचे को कलापूर्ण एवं स्पृहणीय बनाने, मिट्टी में रूह फूँकने—जान डालने के लिए कवि का अवतार होता है।

---

* गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।
—भामह

गीता के तृतीय अध्याय में कर्मयोग तथा संन्यासयोग के विश्लेषण-प्रसङ्ग में भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोग पर जो जोर दिया है, उन्होंने यह जो कहा है कि किसी प्रकार की कामना के न रहने पर भी जो मैं सावधान होकर कर्म करता रहता हूँ, उसका एक ही कारण है, एक ही फल है कि यदि मैं वैसा न करूँ तो यह सारी दुनिया ही भ्रष्ट हो जाय।

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म चेदहम्'। इससे भगवान् का यह आशय सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि वह दुनिया को नष्ट-भ्रष्ट नहीं होने देना चाहते। वह नहीं चाहते कि उन्हें ज्ञान-स्वरूप समझ कर सब लोग सीधे से सन्यास का सहारा ले लें, और व्यवहारिक विश्व को मृत्पिण्ड कह कर ठुकरा दें।

यहाँ एक और दार्शनिक विषय अप्रासङ्गिक न होगा। उनकी इस-उक्ति से यह भी तात्पर्य्य निकलता है कि जबतक लकड़ी है तभी तक आग है, नही तो खाक की खाक। अर्थात् आग को कायम रखने के लिए इंधन को जलते रहना होगा। ईश्वर का अस्तित्व बनाए रखने के लिए विश्व को बनाए रखना होगा। अर्थात् ईश्वर विश्व-स्वरूप ही है, विश्व को ठुकरा कर उसे किसी दूसरे स्थान मे नहीं प्राप्त किया जा सकता। विश्व को हृदयङ्गम करने से ही ईश्वर हृदयङ्गम हो जाता है। जब विश्व और स्वय एकाकार हो जाय, विश्व के अणु-अणु को अपने से अभिन्न, अपने मे डूबा हुआ देखने लग जाय, तब ईश्वर प्राप्ति शेष नहीं रह जाती। निष्काम-कर्म-योग विश्व और ईश्वर को एकाकार कर के ही रहता है।

(इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः)

और जो ज्ञान-प्राप्ति के प्रथम ही विश्व का अपमान करते हैं, जो समझते है कि संन्यासाश्रम विश्व से बाहर कहीं है और इसलिए कर्म के फल का त्याग न कर कर्म ही का त्याग करने के लिए सन्यासी होने का आडम्बर रचते हैं, वह 'अहम्' की अनुभूति नहीं, 'अहम्' की पूजा करते

हैं। जिसका फल अशान्ति है, नरक है। क्योंकि ज्ञान साधना नहीं, साध्य है; पूजा नहीं, अनुभूति है। हाँ, ज्ञान के पश्चात् जो संसार छूटता है, वह ठीक है क्योंकि उसे छोड़ना नहीं रहता। जैसे प्रकाश के अनन्तर अन्धकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार ज्ञान के पश्चात् संसार भी स्वयं दूर हट जाता है। कर्म और सन्यास का सूक्ष्म ऐक्य यहीं पर है, केवल उक्ति भेद है। यह एक दार्शनिक सत्य है कि अन्धकार का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, किन्तु प्रकाश का अभाव ही अन्धकार कहलाता है। इसीलिए प्रकाश के आगमन के अनन्तर अन्धकार का अस्तित्व मेटने के लिए पृथक प्रयत्न आवश्यक नहीं होता। यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसे मेटने के पृथक प्रयत्न की अवश्य आवश्यकता होती, क्योंकि आम का पौदा रोपने से नीम का पेड़ सूखता हुआ कहीं नहीं देखा जाता! फलतः यह मानना ही पड़ता है कि ज्ञानोदय के अनन्तर संसार नहीं रह जाता। ससार नहीं रह जाता, अर्थात् सांसरिकता नहीं रह जाती, द्वैत-भाव—अपने-पराए का भाव, अपने से पृथक् विश्व को समझने का अनुदार, संकुचित भाव मिट जाता है। अर्थात् उदार ज्ञान विशाल विश्व को घेरकर एकाकार हो जाता है, अब चाहे इसे ज्ञानकार कहे, चाहे विश्वाकार। क्योंकि यहाँ ज्ञान और विश्व एक ही आधार, एक ही आदर्श, एक ही प्रकार और एक ही अर्थ में है। विश्व का अर्थ ही 'सम्पूर्ण' है, भूमा है, और ज्ञान तो भूमा है ही। अस्तु।

इससे मालूम पड़ता है कि भगवान् स्वयं ही सत्य और सौन्दर्य के बीच मङ्गलमय सामञ्जस्य की इच्छा रखते हैं; ज्ञान और विश्व प्रकृति के बीच एक समझौता चाहते हैं। और उनकी ऐसी इच्छा की पूर्त्ति कवि द्वारा अधिक प्राञ्जल रूप से होती है। जान पड़ता है, सत्य और सौन्दर्य्य मे सहज सामञ्जस्य की शाश्वत प्रतिष्ठा कर सकने के कारण ही ईश्वर को कवि-संज्ञा मिली है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'

विश्व-जीवन के कर्म-कोलाहल मे पड़ कर जब हृदय हार जाता है,

सारा संसार नीरस, निष्प्रीति प्रतीत होने लगता है, और पद-गति शिथिल से शिथिलतर होती हुई रुक जाती है, उस समय कवि की वाणी उसमें उसी प्रकार तेजी और ताजगी भर देती है, जिस प्रकार थके-माँदे राही के दिल में मन्द-सुगन्ध समीर की ताल-ताल पर थिरकती हुई कोयल की कोमल कुहुक। और फिर वह नई चेतना पाकर, नए उत्साह-उल्लास से, नई गति से आगे बढ़ने लगता है। जैसे नैश विश्राम के पश्चात् नव प्रभात का प्रारम्भ होता है।

लोग कहते है कि कवि की दुनिया अनोखी होती है, एकदम नई। मैं कहता हूँ, नहीं, वह इसी पुरानी-पहचानी दुनिया को नई बना देता है, ❀ जैसे वसन्त ऋतु पेड़ की पुरानी डाल को हरियाली डाल कर नई बना देती है। हाँ, वह इसी वृद्ध विश्व को नवीन रूप प्रदान करता है। †

ऐसा नवीन कि—

'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।'

और यदि उसकी दुनिया को खाहमख्वाह खयाली कहा ही जाय तो वह भी एक तरह से दुरुस्त ही है। क्योंकि सब से बड़ा सच यही है कि दुनिया एक खयाल है। यानी विश्व अपने अन्तर ही के अन्तराल में है, उसे खयाल ही जिलाए हुए है। इसीलिए दिल में अच्छे खयालात

❀ 'सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे
भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः।'

—कालिदास

† 'कङ्काल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव-लाली
प्राणों की मर्मर से मुखरित,—
जीवन की मांसल हरियाली।'

- पन्त

रहने पर दुनिया भी अच्छी लगती है और बुरे विचारों के आते ही वह बिलकुल वीरान, बेकार बन जाती है। मतलब यह कि दुनिया को खयाल के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए, यों खास तौर से कवि की दुनिया के खयाली होने में तो कुछ भी अनोखापन नहीं मालूम पड़ता। किन्तु इतना जरूर है कि कवि की भावनाओं के केवल सत्, चित्, आनन्दमय, या सत्य शिव, सुन्दर होने के कारण उसकी दुनिया भी इस दुनिया की अपेक्षा कुछ अधिक सत्य, सुन्दर एवं आनन्दमय होती है। इसीलिए इस दुनिया से ऊबने-झुँझलानेवाले भी उस दुनिया में आकर आन्दमग्न हो जाते हैं। अर्थात् यदि कवि की दुनिया खास तौर से खयाली है तो इसी अर्थ में कि वह इस दुनिया से बहुत ज्यादा बढ-चढ कर है; उसका इसकी अपेक्षा अधिक भरोसा एवं विश्वास करना चाहिए।

ईश्वर का औतार पशु-प्रकृति के विकास या कीड़ों-मकोड़ों के पथ-प्रदर्शनार्थ नहीं होता, उसी प्रकार कवि का अवतार भी विशेष-रूप से मानव जाति के कल्याण के लिए ही होता है। जगत् की जड़ता से ऊबकर मानव उसे मरु न बना दे इसलिए बराबर उसकी पगडण्डी को सौन्दर्य्य-रेखाङ्कित, रस-सिक्त करने में कवि की दृष्टि लगी रहती है, हृदय खुला रहता है। तभी मैंने कहा कि वह इसी दुनिया को नित नई बना कर पेश करता है। ज्यादा जान-पहचान हो जाने से जो उसके प्रति एक अवज्ञा का भाव बढ़ने लगता है, उसे ही वह आत्म-कला से मेट देता है। फिर जिस प्रकार एकरसता से ऊब उठना स्वभाविक है उसी प्रकार सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक है। लिहाजा रोज-रोज नए-नए सौन्दर्य्य की उद्भावना ही कवि की कला है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि तब तो कवि मिथ्या को रोचक बनाकर प्रस्तुत करनेवाला है। जो जगत सचमुच ही नीरस, निःसार है, उसमें सौन्दर्य की उद्भावना करना जादूगरी है, वञ्चना है। किन्तु

ऐसा कहते समय यह न भूल जाना चाहिए कि संसार को निःसार एवं असत्य बतलाने वाले वेदान्ती भी उसे व्यवहार दशा में असत्य नहीं मानते। और यह 'व्यवहार दशा' है क्या बला ? यही न कि प्यास लगने पर 'मिथ्या' माने जानेवाले पानी की उपेक्षा नहीं की जा सकती, समाधि-शान्ति की कामना से भी हिमालय के लिए प्रस्थान करते समय 'मिथ्या' कही जानेवाली 'जमीन' को पैर के नीचे से खिसका-सरका कर नहीं जाया जा सकता। तो दूसरे शब्दों में 'व्यवहार दशा' का सुस्पष्ट अर्थ अत्यावश्यक अवस्था हुआ। अर्थात् वह सारा ज्ञान, विज्ञान, सत्य-तथ्य "झुठाई" को तरह देकर नहीं चल सकता। अर्थात् सत्य ही की तरह मिथ्या भी अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त उद्धरण मे भगवान जो 'कर्म' की दुहाई देते दिख पड़ते हैं, वह भी भगवान् का विश्व के प्रति कोई विशेष पक्षपात नहीं है। उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि विश्व-मानव 'सन्यास' के लिए विकल-बेकल है और भगवान उसे दुनिया पर दया करने के लिए दुनियावी बनने की सीख दे रहे है। नहीं, जब जलस्रोत पत्थर की छाती छेद कर बह चलता है तो उसे कोई नहीं रोक सकता। जब सचमुच ही कोई कर्म का बज्रकपाट तोड़ कर उन्मुक्ति के आँगन मे आ जायगा तो उसे भगवान भी नही रोक सकेंगे, वह रोका ही नही जा सकता। तो फिर उस उक्ति का साफ मतलब यही है कि मानव-प्रवृत्ति जो स्वार्थ मग्न है, कर्मक्लान्त है, वह उसी पर 'पालिस' चढा रहे है; 'कलर' कर रहे है। वह कह रहे हैं कि यह रास्ता गलत नहीं है, बल्कि ज्यादा सीधा है, (ज्यादा सीधा इसलिए कि कर्म मानव-प्रकृति के अन्दर दाखिल है।—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।) मगर हाँ, इस पर कुछ ऐसे ढंग से चलना चाहिए कि थकावट न आ जाय, मन हार न बैठे। और इससे बचने का सीधा तरीका यही है कि स्वार्थ-भावना से, अपने लिए न चला जाय। क्योंकि किसी समय स्वार्थ पर तनिक धक्का पहुँचते ही

चलना बंद होने का भय रहेगा। और यह शाश्वत प्रकृति है कि चलने वाले को ठेस-ठोकर सब सहना पड़ता है। अर्थात् कर्म अवश्य किया जाय किन्तु केवल लाभ की लालसा से ही नहीं, ईश्वर के लिए, अपना अवश्य कर्त्तव्य समझ कर। इससे कर्म तो होता जायगा, किन्तु कुकर्म करने का डर न रहेगा; क्योंकि जहाँ सूरज रहता है वहाँ अंधेरा नहीं रहता, जहाँ ईश्वर रहते हैं वहाँ पाप नहीं रहता।

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर"

इस प्रकार वह कर्म कर्म न रहकर 'कर्मयोग' हो जायगा, 'कर्म-साधना' बन जायगा। वैसा कर्मयोगी 'कर्म' कहकर 'कुकर्म' को गले नहीं लगाता फिरेगा, वह बराबर प्रयत्न करता रहेगा कि उसका शरीर अपवित्र न होने पाए,—वह शरीर जिसे ईश्वर का चेतन स्पर्श प्राप्त है, जिसमें ईश्वर का श्रीनिवास है, कभी कुत्सित न हो उठे।

"I shall ever try to keep my body pure, knowing that thy living touch is upon all my limbs

वह कहता है—"तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान"। और यदि भगवान का यही तात्पर्य है तो कहना चाहिए, वह कवि का काम कर रहे हैं। वह मानव के कर्म-धर्म-तप्त ललाट से पसीने की बूँदें पोछ रहे हैं; उसे सहला दुलराकर जीवन-पथ पर आगे बढ़ा रहे है।

जीवन की इच्छा स्वाभाविक है, आत्म-हत्या अस्वाभाविक। प्रवृत्ति की ओर उन्मुखता प्राकृतिक है, निवृत्ति की ओर कृत्रिम। युग-युग पर्य्यन्त कठोर तपश्चर्य्यानिष्ठ ऋषि-महर्षियों का मेनका-उर्वशी की एक ही चितवन पर योग-भ्रष्ठ हो जाना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अर्थात् सृष्टि-स्थिति एकान्त स्वाभाविक है, इसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश की असीम-करुणा अत्यन्त आवश्यक नहीं है। हाँ, सृष्टि से पार जाने - शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिए कदाचित् उनकी करुणा अनिवार्य्य हो।

मै लिख आया हूँ कि क्षुधा-ज्वाला से आकुल होकर मनुष्य मिट्टी खा सकता है, प्यास से परेशान होने पर ऊँट का पेट चीरकर उसके भीतर का पानी भी पी ले सकता है; किन्तु यह क्षुधा-तृषा की 'सुन्दर' शान्ति नहीं हुई। इसी प्रकार अस्वाभाविक होने पर भी आत्महत्या की इच्छा असम्भव नहीं है, और जब-तब "To be or not to be" की सीख न पाने वाले मनुष्य भी अपने बोझिल जीवन से ऊब-खीझ कर अपनी ही हिंस्र पशुता पर आप बलि हो जाते है! और अप्राकृतिक होने पर भी निकम्मापन, गृह-कलह आदि कभी-कभी मनुष्य के विश्व-वैराग्य का कारण बन जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार आत्महत्या सम्पूर्ण त्यागमयी होने पर भी कायरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी प्रकार गृह-कलह-जन्य सन्यास को कर्म-क्षेत्र से भाग निकलने के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। और अधिकांश कायर और डरपोक ही इन दोनों पथो के पथिक होते दीख पड़ते है। हॉ,

"सूर श्याम प्रभु तुम्हरे दरस को लैहों मैं करवट कासी!"

× × × —सूर

"जानकी-जीवन की बलि जैहों!"
"दरस-आस पियास तुलसीदास चाहत मरन!"

× × × —तुलसी

"मरन रे तुहुँ मम श्याम-समान,
ताप-विमोचन करुण कीर तव, मृत्यु अमृत करे दान।"

× × × —रवीन्द्र

"मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में आई हुई, न डरो!"

+ + + —निराला

दे, मैं करूँ वरण,
जननि, दुखहरण पद-राग-रञ्जित मरण!
प्राण-संघात के सिन्धु के तीर, मैं

गिनता रहूँगा न—कितने तरङ्ग हैं
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण !

—निराला

को कोई कायरपन या निकम्मापन कहने का दुःसाहस नहीं करेगा। यही हुआ कुत्सित को सुन्दर कर देना। जो आत्महत्या स्वार्थ के लिए—अपने लिए होने पर पाप है, ❀ वही परार्थ-परमार्थ होने पर परम पुण्य हो जाती है।

ऐसी दशा में यदि भोजन करना ही है तो क्यों न उसे सुस्वादु बना लिया जाय? यदि जीना ही है तो क्यों मरण-पर्य्यन्त मुहर्रमी सूरत बनाकर रहा जाय? यदि मिथ्या मान लेने पर भी संसार को पकड़े ही रहना पड़ता है तो क्यों उसे मिट्टी का ढेर कहकर ठुकराया जाय? उसमे सोने की खान भी तो है—एक दृष्टि उस पर भी डालते चलने से क्या हानि है? यदि 'झूठे' फूल चुनने ही पड़ते हैं तो क्यों मरघट के निर्गन्ध किंशुक-कुसुमों की ओर ही टकटकी लगाई जाय, जब कि पथ के दोनों किनारों पर जुही और चमेली, गुलाब और नर्गिस फूल-फूलकर झूल रहे हों?

कवि यही सब दिखलाता-सिखलाता है। कवि का सब से बड़ा काम 'सत्य' को सुन्दर बना देना है। ऊपर उद्धृत पद्यों में परमार्थ-भावना से आत्महत्या-जैसा भयानक पाप भी जैसे पुण्य हो गया है, मृत्यु भी सुन्दर हो गई है। जो मृत्यु को भी जीवन बना डालता, आत्महत्या को भी पुण्य बना सकता है, उसी भाव को मै 'सौन्दर्य्य' कह रहा हूँ, उसी का अभिव्यञ्जन कवि का अपना कर्म है।

जनवरी '३९

❀"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।"

आलोचना का आदर्श

किसी कृति के गुण-दोष का निष्पक्ष विश्लेषण ही आदर्श आलोचना नहीं है। गुण-दोष की समष्टि प्रत्येक कृति की प्रकृति के अन्दर दाखिल है। अर्थात् मानव गुण-दोष से परे नहीं और फलतः उसकी कृति में उसके गुण-दोषमय व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब अवश्य रहेगा। ऐसी दशा में केवल गुण-दोष का क्षीर-नीर न्याय से पृथक्करण कदापि आदर्श आलोचना नही होसकता। स्थूल रूप से आलोचक की तुलना हस से हो सकती है, पर आदर्श आलोचक की नहीं, और वह होनी चाहिए भी नहीं।

एक तो क्षीर-नीर की तरह सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, गुण-दोष की रूप-सीमा निर्द्धारित नही की जा सकती, क्योंकि क्षीर एक के मत से क्षीर और दूसरे के मत से नीर नहीं हो सकता; किन्तु एक की दृष्टि में उचित जँचनेवाली वस्तु दूसरे की दृष्टि से अनुचित हो सकती है; होती है। एक आलोचक अपनी बुद्धि से जिसे गुण करार देता है, दूसरा उसे अपने विवेक से दोष कहने तनिक भी नहीं हिचकता; क्योंकि दूध-पानीवाले स्थूल विश्लेषण से यहाँ काम नहीं चलता।

इस विश्व में कोई भी विशेष नियम दूध और पानी की भाँति किसी विचार को त्रिकाल में अबाधित, निश्चित, निर्णीत करने मे समर्थ नहीं हो सका। अतः प्रत्येक समीक्षक को किसी तरह के निर्णय-काल में अपना बुद्धिस्वातन्त्र्य दिखलाना ही पड़ता है। ऐसी दशा मे 'सर्वतो-भावेन क्या ठीक है?' इस शंका का समाधान करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। और जब ऐसा है तभी आलोचना का विशेष महत्व भी

अन्यथा आलोचक क्षीर-नीर की भाँति सिद्ध गुण-दोष का विभाजन ःर झटपट छुट्टी पा जाता। लेकिन आलोचक का कार्य इतना सरल ाहीं है ।

दूसरे, दूध और पानी को अलग-अलग कर दिखला देनेवाले ाजहंस की तरह आलोचक की भी कोई एक निश्चित जाति, निर्णीत ेणी नहीं हो सकती। मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि जैसे एक के ाद शत-सहस्र् राजहंस भी क्षीर को क्षीर और नीर को नीर ही कहेंगे, ीक उसी प्रकार किसी एक ही आलोचक की आलोचना को सर्वथा ामुचित मान लेने के लिए दूसरा आलोचक वाध्य नहीं किया जा सकता। 'स विवेचन से सिद्ध होता है कि किसी भी आलोचक से क्षीर-नीर के ामान गुण-दोष के निश्चित विश्लेषण की आशा करना नितान्त नेष्फल होगा।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि कोई भी आँखवाला आदमी ेन को दिन और रात को रात ही कहेगा, फलतः दोष को गुण और ग्रोर सत्य को मिथ्या कहना प्रलाप होगा। किन्तु इसी स्थल पर यह ी भलीभाँति समझ लेना होगा कि दिन और रात की तरह, सत्य और असत्य, गुण और दोष का स्थूल विभाग नहीं होता, दिन और रात ही की तरह इनका विषय पूर्व-निश्चित, चिर-निर्द्धारित नहीं है, अर्थात् नहीं ो सकता। और जो दिन-रात की तरह गुण-दोष की स्थूलतामात्र के वेभाजक हैं—जैसे 'सत्य बोलना चाहिए', 'लालच बुरी बला है'-जैसे ामान्य विचारों के विरुद्ध भरसक कोई कुछ नहीं कहता—उनकी ऐसी ोलमटोल आलोचना को भी आलोचना की संज्ञा देने की उदारता की ा सकती है, पर उसे आदर्श आलोचना कभी नहीं कहा जा सकता।

काव्य की आलोचना के लिए जैसे अलंकार-शास्त्र के कुछ चिर-नेर्द्धारित नियम हैं, केवल उन्हीं से मिला-जुलाकर जहाँ किसी कृति

के गुण-दोष का आकलन होगा, उसे ही मैं स्थूल आलोचना कहता हूँ, वही मेरे विचार से तीसरी श्रेणी की आलोचना है; क्योंकि वहाँ आलोचक की निजी मधुर मौलिकता, उसके स्वतन्त्र सहृदय व्यक्तित्व के दर्शन नहीं होते; क्योंकि वहाँ शुष्क मस्तिष्क ही काम करता है, आर्द्र हृदय नहीं; यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में व्यक्ति की ही प्रधानता होती है; शास्त्र की समतल भूमि को स्वयं ही सहृदयता से उर्वर बनाना पड़ता है। और सच तो यह की तथाकथित अलंकारशास्त्र की लीक पीटनेवाली आलोचना कृति के अत्यन्त स्थूल स्थल पर जमी रह जाती है। वह विघटित करने की जितनी आदी होती है, उतनी संघटित करने की नहीं। इतना ही नहीं, वह जीवन की अपेक्षा शरीर के अंग-प्रत्यंग के सूक्ष्म निरीक्षण में ही अधिक व्यस्त रहती है। आरम्भ से अवसान तक, अणु-परमाणुओं को मिलाकर, समष्टिगत सौन्दर्य्य पर सहृदय दृष्टि डालते वह नहीं देखी गई। और मैं पहले कह चुका हूँ, निर्दोष निर्माण असम्भव है। अतः अवश्यम्भावी दोष-गुणों के विश्लेषण में सम्पूर्ण शक्ति को क्षीण कर देने का उसे अनायास अवसर प्राप्त हो जाता है, इससे एक दम आगे बढ़कर कृतिकार के साथ सहानुभूतिशील वह बने तो कब बने? फिर भी जिस एक अंग की पूर्ति वह कर पाती है, उसकी एकान्ततः उपेक्षा-अवहेलना आलोचना के वर्तमान विकसित युग में भी अवांछनीय है। जिस प्रकार ब्रज-भाषा का, अथवा शृङ्गार का साहित्य, इस समय किसी के लिए आदर्श न हो सकने, अनुकरणीय न हो सकने पर भी साहित्य की व्यापक भूमि से, सहृदयता के सुरम्य प्रदेश से निष्कासित नहीं हो सकता। अस्तु

ऐसी दशा में कृतिगत सम्पूर्ण समुचित निर्णय का गुरुभार किसी भी एक आलोचक के ऊपर विश्वासपूर्वक नहीं लादा जा सकता। तभी मैंने कहा कि आलोचक हंस नहीं है, क्षीर-नीर की तरह सत्य-असत्य पर दिया हुआ उसका निर्णय ही अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता।

यहाँ कहा जा सकता है कि किसी एक मर्यादा को मानकर न चलने से तो कभी भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। सचमुच ही ऐसा होने का खतरा है, यदि पाठक को अपने दिल और दिमाग का आसरा एकदम ही छूटा रहेगा; किन्तु कृति की सर्वाङ्गीण समीक्षा के लिए आलोचक को तो निर्मर्याद, उच्छृङ्खल होना ही पड़ेगा। इसीलिए 'रसज्ञ' आलोचक ने 'रीति' को काव्य की आत्मा नहीं माना। 'ध्वनि-मर्मज्ञ' ने 'वाच्य अलंकारों' के आगे अपना मस्तक नहीं झुकाया; अर्थात् किसी पूर्व-निगदित शृङ्खला को तोड़कर ही नवीन आलोचक को आगे बढ़ना पड़ता है। उसे रोक रखने से कृतिगत नव-नव सौन्दर्य्य के उन्मेष की सम्भावना जाती रहेगी। जो हठ से केवल प्राचीनता-प्रिय है, उन्हें प्रसन्न करने के लिए, कम से कम मौलिक आलोचक को तो आत्म-हत्या नहीं ही करनी चाहिए।

फिर आलोचना का आदर्श क्या हो सकता है?—मैं कहूँगा, आलोचक के चतुरस्र सौन्दर्य्य के अन्वेषण तथा रस-बोध का आकुल आवेग; कृतिकार के साथ सहानुभूतिमूलक आत्मीयता से उत्पन्न रसमय विवेक-प्रवाह। सहानुभूति से मेरा तात्पर्य्य त्रुटियों को घोल-घालकर पी जाने से नहीं, कृतिकार के हृदय के साथ एकतान होकर, उसी के इङ्गित-चेष्टितों को हृदयंगम करने के लालसामय प्रयास से है। अर्थात् आलोचक को मूल लेखक के साथ एकप्राण होकर देखना होगा कि उसने किस प्रकार किसी सौन्दर्य्य को सजीव करने का प्रयत्न किया और उसमें वह कितनी दूर तक सफल हो सका। क्योंकि आलोचना वीणा या ध्रुपद का पद नहीं, तारों की झंकार और गायक के सुरों से सामंजस्य स्थापित करनेवाला संगीत है; क्योंकि आलोचना कोकिला या रसाल की डाल नहीं; किन्तु स्वर और सौरभ को मिश्रित कर मुसकिराने वाली वसंत-श्री है।

मैं इसे एक उदाहरण के द्वारा सुस्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा। दुष्यंत-शकुंतला के प्रथम उच्छ्वसित प्रणय-मिलन के पश्चात् कालिदास

ने जो दुर्वासा के शाप की कल्पना की है उस पर कवींद्र रवींद्र कहते हैं—

"जिस प्रेम में कोई बंधन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयम-दुर्ग के भग्नप्राचीर के ऊपर अपनी जय-पताका को गाड़ता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंयत प्रेम-सभोग हमलोगों को अपने अधिकार से प्रमत्त या कर्तव्य-च्युत कर देता है वह स्वामि-शाप से खंडित, ऋषि शाप से प्रतिहत और देवरोष से भस्म हो जाता है। शकुन्तला को आतिथ्य धर्म का ख्याल नहीं रहा, वह दुष्यन्त के ही ध्यान मे मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मंगल भाव मिट गया। जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेम-पात्र को छोड़ कर और किसी की कुछ भी परवाह नही करता, उसके विरुद्ध सारा ससार हो जाता है। इसी से वह प्रेम थाड़े ही दिनो में दुभर हो जाता है। वह सबसे विरुद्ध होकर अपना अस्तित्व बनाए रखने में असमर्थ हो उठता है।"

इन उदात्त विचारों के बारे मे शायद ही किसी समझदार पाठक के हृदय मे द्विधा हो। जान पड़ता है, जैसे कालिदास के पहलू मे पैठ कर उन्हीं के असली अभिप्राय को रवीन्द्रनाथ समझा रहे है, जैसे स्वय कालिदास भी दुर्वासा के शाप की इससे अच्छी सार्थकता नहीं सिद्ध कर सकते।

किन्तु एक दूसरे गहरे आलोचक (डी० एल० राय) की दृष्टि में दुर्वासा-शाप की कल्पना थोथी है, लचर है, ओछी है। इतना ही नहीं, रवीन्द्रनाथ की उपर्युक्त 'आध्यात्मिक' व्याख्या भी कालिदास की खुशामद है, चापलूसी है, उसका वास्तविक मूल्य कुछ भी नही वे कहते है—

"शकुन्तला अपने पति के ध्यान में मग्न थी। पति ही ज्ञान, पति ही ध्यान और पति ही सर्वस्व, यही क्या आदर्श सती पतिव्रता का लक्षण

नहीं है ? जो परम धर्म माना गया है, उसी का पालन करने के कारण ऐसा कठोर शाप ?

× × × ×

"शकुन्तला कुछ आठों पहर दुष्यन्त के ध्यान में नहीं डूबी रहती थी। वह खाती-पीती थी, बातचीत करती थी, उठती-बैठती और घूमती-फिरती थी। हो सकता है कि एक दिन सन्नाटे में, सबेरे के सुहावने समय में, निर्जन स्थान में, शांत तपोवन के बीच, कुटीर-प्रागण में बैठकर, शून्य दृष्टि से दूर आकाश या स्तब्ध प्रकृति को देखती हुई नवोढा विरहिणी शकुन्तला पति के बारे में सोच रही हो, सोचते-सोचते उसकी आँखों के आगे से सारा जगत् लुप्त हो गया हो। नव-विवाहिता प्रथम-विरहिणियों का ऐसा हाल हुआ ही करता है। यह पाप या करुण शाप के योग्य काम नहीं है। उस समय वह असीम अनुकम्पा की पात्री थी, क्रोध की नहीं।

× × × ×

"इसमें संदेह नहीं कि कालिदास की यह अभिशाप की कल्पना अत्यन्त अनिपुण हुई है।"

अपने अपने स्थान पर दोनों ही आलोचक "परम तथ्य" का प्रतिपादन करते दिखाई पड़ते हैं। किन्तु उनके दृष्टिकोण में कैसा आकाश-पाताल का सा अंतर ! एक की दृष्टि में जो कालिदास की सर्वश्रेष्ठ निपुणता है, वही दूसरे की दृष्टि में एकदम छिछोरापन है। तीसरी श्रेणी के नाटक के उपयुक्त अयुक्तियुक्त कल्पना है। क्यों न हो, आलोचना के लिए कोई रूढ़ सिद्धांत, कोई विशिष्ट दृष्टिकोण तो नियत है नहीं। आलोचक अपने मस्तिष्क पर भरोसा रखकर, अपना दिल पिघला कर मूल लेखक के दिल छेड़ रहा है; और दिमाग को टटोल रहा है; छू रहा है; (और तदनुकूल उपपत्तियाँ अपने आप निर्मित होती चली जा रही हैं। मैं इसे ही आदर्श आलोचना कहता हूँ।

यहाँ इस द्वन्द्वात्मकता में जो परम से भी बढ़कर चरम तथ्य के

निर्णय के लिए साहस करेगा, वह भी होगा प्रौढ़ पाठक का रसप्रवण उदार हृदय ही, भाव-ग्रहण-पटु स्वतंत्र मस्तिष्क ही। दोनों के तारतम्य का, दो विभिन्न दृष्टिकोणों के सामंजस्य का, ठीक-गलत का निबटारा वही अपने आप करेगा। जिसके ऐसा हृदय या मस्तिष्क नहीं, वह या तो कालिदास के, नहीं-नहीं, अखिल काव्य-कला-तत्व के अध्ययन का अधिकारी नहीं हो सकता, अथवा उसे 'रीति-स्कूल' की, प्रत्येक पंक्ति पर तैयार की हुई गुण-दोष-अलकार की सूचीवाली 'संस्कृत-समीक्षा' से सन्तोष करना पड़ेगा।

लेकिन ऐसा कहने का मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि आदर्श आलोचक का कार्य सरल-हृदय पाठक को केवल संशय के गहरे गर्त मे डाल देना है। नहीं, उसका तो सबसे बड़ा कार्य उसे निःसंशय करना ही है। किन्तु 'वेदाज्ञा' की भाँति नीरस अनुशासन द्वारा नहीं, अपनी सहृदयता के प्रभाव से, अपनी असंदिग्ध विदग्ध उपपत्तियों के प्रवाह से। उसके पढ़ने समय यदि पाठक का हृदय आर्द्र हो कर उसके साथ बह न गया, जैसा कि वह आलोच्य विषय के साथ स्वयं अपने आप को बहा देता है; यदि उसकी अहृदयगम युक्तियों ने पाठक को रुक-रुक कर उचित-अनुचित का 'व्यर्थ' विवेचन करने के लिए अवसर दिया; यदि उस समय उसने अपने ही विवेचन को पाठक से परम तथ्य नहीं मनवा लिया; अपनी ही सहृदयता के अजस्त्र रस-स्त्रोत से पाठक के हृदय का कोना-कोना न भर दिया तो उसे आदर्श आलोचक की उच्च आख्या प्रदान करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो भाषा के बहाव से जड़ भाव को, उपमाओं और रूपकों से अपनी स्वयं की संशयावस्था को छिपाने में व्यस्त है, उसी कृत्रिम आलोचक की वाचालता से सावधान-सतर्क रहना पड़ता है। जो शास्त्रीय सिद्धांतों का बोझ पाठक के सिर पर लादता है, बात-बात में जिसे ऋषियों और आचार्यों के नामों की दुहाई देनी पड़ती है, जिसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहना रहता, उसी शिशु आलोचक की उक्ति-युक्तियों पर दृष्टि डालनी पड़ती है! किन्तु जो आत्म-प्रकाश में निःसंशय है, अपने तर्कों

में सुस्पष्ट और उज्ज्वल है, अपनी भावना-धारा में आप बह गया है, उस आदर्श आलोचक के सरस भाव-सागर में डूबे-उतराए बिना भावुक पाठक रह कैसे सकता है ?

यह ठीक है कि उसके निजी विचारों को चिरकाल तक उसी के मँजे गले से आलापते रहने के लिए वह अपने नवीनता-प्रिय पाठक को बाध्य नहीं करता। यथासमय प्रबुद्ध पाठक अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता से अन्यान्य आलोचकों के उच्च-तुच्छ विवेचनों के साथ उसके विचारों एवं उद्गारों के उच्चावच की परीक्षा कर सकता है। सच तो यह है कि आदर्श आलोचक पाठक को अपने विचारों का भारवाही बना ही नहीं सकता। उसका काम तो पाठक को एक 'आलोचक की सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण दृष्टि' प्रदान करना ही है। वह अपने पाठक को भी स्वतंत्र आलोचक बना देना चाहता है, तभी तो वह तुलनात्मक आलोचना के समय उसके विचार-व्यक्तित्व का विवेचन कर सकेगा।

तो, आदर्श आलोचना में यही देखा जायगा कि आलोच्य विषय के साथ स्वयं तन्मय होकर वह कहाँ तक पाठक के संशय सदेह, जिज्ञासा-कुतूहल को शांत कर सकती है; उसे परितृप्त तथा तन्मय कर सकती है; अपने में घुला-मिला ले सकती है। उसे परमार्थ सत्य प्रदान करने का दंभ तो करना ही नहीं चाहिए। उसका काम पाठक के किसी भाव-विशेष, सौंदर्य-विशेष की अनुभूति के अयोग्य, अलस-निमीलित हृदय, स्वप्निल-तंद्रिल सहृदयता तथा सहानुभूति को आवश्यकतानुसार उन्मिषित, विकसित कर देना ही है। कृतिकार के कलातत्त्व को उसने जैसा समझा, उसे पाठक के हृदय में स्वच्छतया अंकित कर देना, कलाकार ने जो कल्पना की, पाठक को उसकी अनुभूति करा देना, यही आदर्श आलोचना है।

वस्तुतः रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाएँ चरम सत्य का फैसला नहीं देती। ऐसा करना उनकी शक्ति-सामर्थ्य से बाहर की बात है। सचमुच ही 'सूर सूर तुलसी शशी' अनुप्रास के लोभ से नहीं कहा गया,

जैसा कि 'तुलसी' की आलोचना करते समय उन्होंने लिखा है। किन्तु अपनी अबाध-गति आलोचना के क्लाइमेक्स पर पहुँचकर जहाँ उन्होंने वैसा लिखा है, वहाँ कोई भी सहृदय पाठक उनके कथन में संशयालु न हो सकेगा। यही नहीं, उन्होंने तुलसीदास के जिन सामाजिक, धार्मिक व्यापक दृष्टिकोणों का वहाँ उल्लेख किया है, उनकी जैसी दिव्य भावनाधारा का परिचय दिया है, वह सब भी तो तुलसीदास का न होकर उन्हीं का है; किन्तु उसके अध्ययन-काल में हमे जो तुलसीदास के हृदय से हृदय मिला देने जैसा सुख-सन्तोष प्राप्त होने लगता है, यही आदर्श आलोचना है।

आलोचक की सबसे बड़ी सफलता यही तो है कि वह भ्रम से भी पाठक को यह सोचने का अवसर न दे कि वे विचार निश्चित रूप से मूल कृतिकार के नहीं, किन्तु उसी आलोचक के है। और ऐसा तभी हो सकता है, जब वह आलोच्य विषय के अन्तरग में प्रविष्ट होकर, उसका मर्म मालूम करने के लिए अहर्निश साधना करता है, उससे एकतान होकर उसका अनाहत नाद सुन लेता है। और तब जो उसकी अनुभूतियों का सहज उद्‍गार होता है, वही आदर्श आलोचना है, वही आलोचना का आदर्श है।

नवम्बर '४०



हिन्दी काव्यालोचन का क्रमिक विकास

१

विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। उनका दूसरा नाम छन्द भी है। और वे छन्द बन्ध की शोभा-सुषमा लिए हुए तो हैं ही।

ऋग्वेद में, जो वेदों में भी सब से प्राचीन है, उषास्तुति की ऋचाएँ उच्च कोटि की कविताएँ है। इससे सिद्ध होता है कि गद्य की अपेक्षा पद्य बहुत अधिक पुराना है; हमारा आदि या अनादि सत्यचिंतन पद्य के माध्यम से ही प्रकाशित हुआ है; हम आरंभ से ही कवि है।

इसके बाद लौकिक काव्य-निर्माताओं मे सर्व-प्रथम महर्षि वाल्मीकि का नाम आता है। वे आदि कवि है, और उनका आद्य उद्गार - प्रथम शोक—भी श्लोक बनकर ही बाहर निकला है। इस प्रकार विश्व के सर्वाधिक प्राचीन साहित्य—वेदों को गोदियो खिलानेवाली संस्कृत-भारती जैसे पुकार-पुकारकर यह कह रही है कि हमारे यहाँ, गणित-आयुर्वेद, अर्थशास्त्र-राजनीति जैसे शुष्क विषय ही नहीं, कोष तक काव्यमय है, एक शब्द मे—हम पहले कवि हैं, फिर और कुछ।

इस अखंड सत्य की पार्श्वभूमि में जो एक तात्कालिक असाधारण कारण निहित है, उसे हम मे से सभी जानते हैं, यहाँ उसका दुहराया जाना अधिक आवश्यक नहीं है। विशेषतया तब, जब कि ऐतिहासिक या कालकल्पित अनेक हेतुओं के बावजूद भी आज तक भारत का काव्य-साहित्य ही सर्वाधिक संपन्न (rich) रहा है।

इस अवसर पर 'जाबर्ट' की उस उक्ति का स्मरण हो आता है, जिसमें बताया गया है कि काव्य के द्वारा तुम 'सत्य' तक पहुँच सकते हो, क्योंकि 'सत्य' के द्वारा मैं काव्य तक पहुँचता हूँ। 'you arrive at truth through poetry; I arrive at poetry through truth

'बेले' ने भी कहा है, वे सभी कवि हैं, जो 'परमसत्य' को प्यार करते हैं; अपने भीतर उसका अनुभव करते हैं; और उसे सब पर प्रकाशित कर देने की, हृदयंगम करा देने की, क्षमता रखते हैं। 'Poets are all who love and feel great truths and tell them'

कहने का तात्पर्य्य यह कि काव्य ही सत्य के अधिक समीप है। जान पड़ता है, मानवजाति के सर्वोत्कृष्ट आदर्श—सत्य को सब से अधिक समीप से निरखने-परखने और सहृदय-हृदय-संवेद्य बना सकने की सामर्थ्य रखने के कारण ही, काव्य अनादि काल से सर्व-जन-सम्मानित होता आ रहा है।

किन्तु अतीत के दिव्य-मन्दिर की स्वर्णिम देहली पर मणिदीप के जलते रहने पर भी, हमारा वर्तमान युग-गेह नवाविष्कृत विद्युत्प्रकाश से ही प्रकाशित है। और ऐसी दशा में हम चारण-बन्दी के मन्द-मधुर सुर से भूत-गाथा का गान निरर्थक समझकर, संक्षेप में यही कहकर आगे बढ़ते हैं कि वह छन्दसंगीत-संकुल आर्य साहित्य क्रमशः गद्यमय होता गया है। प्रशांत जीवन का स्वर्गीय संगीत विश्व-समाज के संघर्ष से दबकर ज्यों-ज्यों दम तोड़ता गया है, त्यों-त्यों विश्व-साहित्य में गद्य का, नहीं-नहीं, मोल-तोल करनेवाली बाजारू ज़ुबान का, क्रमशः प्रचार-प्रसार बढ़ता गया है।

और आज, गद्य 'काव्य' नहीं, काव्य 'गद्य' हो गया है। यों कहें, आज के गद्यमय गोधूलिकाल में, धूलि-धूसरित दिशाकाश के नीचे कवि मानों काव्य के पराजयजन्य भावी भयंकर विद्रोह के विशृंखल गीत रच रहा है।

हिन्दी में, चन्द बरदाई से लेकर भारतेंदु हरिश्चन्द्र तक अनेक घूर्णित-आवर्त-तरंग-भंगों के बीच से उखाड़-पछाड़ खाती हुई काव्य-धारा एक सीमा तक गद्य को अपना चुकी थी। अब हिन्दी का काव्य केवल पद्यात्मक न था; वह अपने अपर अंगों—नाटक, आख्यान, निबन्ध आदि—के साथ-साथ चलने लगा था! हम कहें, एक खास शैली के भीतर से;

एक खास शैली की कविता की जो बाढ़ अविराम बही आ रही थी, वह गद्य को भी एक निश्चित प्रश्रय देनेवाले भारतेन्दु तक आती-आती लगभग सूख चुकी थी। यद्यपि अभी उसका अस्तित्व नहीं मिट गया था, स्वयं भारतेन्दु और उनके बाद भी सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाकर, वियोगी हरि आदि उसी की टूटती हुई साँस की तरह अवसर-अवसर पर बाहर आए, लेकिन फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य के कन्धे से कन्धा भिड़ाए पद्य बहुत दूर तक चल हीं नहीं सकता, अगर वह पद्य 'गीतगद्य' न होकर निश्चित रूप से पद्य हो,—कविता हो। यह हमारी कपोल-कल्पना नहीं, अध्ययनशील व्यक्ति हिन्दी के वर्तमान साहित्य में भी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त कर सकते हैं।

तो, नीरस भाषा में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि कालिदास आदि महाकवियों के महाप्रयाण के अनन्तर—काव्य-युग समाप्त हो जाने पर, संस्कृत में, जिस प्रकार आलोचना का बाजार गर्म हुआ; अच्छी से अच्छी कविताओं में राशि-राशि दोष निकालने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किया जाने लगा; आदर्श और सिद्धांत की बलि-वेदी पर मौलिकता का गला घोटा गया, और, फिर पंडितराज की फौलादी कसौटी पर कसी जाने के बाद तो संस्कृत-काव्य परंपरा ही न जाने कितने काल तक के लिए कालकवलित हो गई, ठीक उसी प्रकार तुलसी-सूर-कबीर-केशव-देव-बिहारी जैसे महाकवियों के मर चुकने के बाद, भारतेन्दु-युग में उनकी काव्यालोचनाओं का श्रीगणेश हुआ, और द्विवेदी-युग में उसी का बहुत विस्तार होता गया, उसके बाद छायावादी युग में, खड़ी बोली के 'क्लासिकल' कवि आलोचित हुए और आज प्रगतिशील युग में छायावादी कविताओं की अन्धाधुन्ध आलोचनाएँ जारी हैं। अर्थात् कविता के ह्रास के साथ-साथ आलोचना-साहित्य का क्रमिक विकास होता जा रहा है।

यह सब हम आलोचना-साहित्य की प्रशंसा में ही कह रहे हैं। सुना है, जब भक्त का सब कुछ हर लेते हैं, तभी भगवान प्रसन्न होते हैं।

फिर, यदि भगवान की प्रसन्नता भक्त के लिए वन्दनीय है, तो निःसन्देह आलोचना का विकास भी साहित्य के लिए अभिनन्दनीय।

चतुर आलोचक इसी बात को यों कहते हैं कि जब तक प्रचुर परिमाण में काव्य निर्मित नहीं हो जाता, तब तक आलोचना हो भी तो काहे की हो ! इसलिए जिस प्रकार पहले भाषा बनती है, पीछे व्याकरण, उसी प्रकार पहले कवि होते हैं, पीछे आलोचक। ठीक ही है, शेक्सपियर-मिल्टन आदि न होते तो क्यो उन पर शत-शत समीक्षाएँ लिखी जातीं ? कैसे अंग्रेजी का (पाश्चात्य) साहित्य आलोचनामय हो जाता ? और, उन्नीसवीं शताब्दी के सभ्यता विनिमय (भावना-संक्रांति) काल से लेकर आज तक भारत के प्रत्येक भाषा साहित्य में उसी प्रकार की समीक्षाओं की कोशिशें चलती रहतीं ?

यहाँ हमारा तात्पर्य अपरिवर्तनवादी, रूढ़िप्रस्त या संकुचित नहीं, विदेशी प्रवृत्तियों के स्वागत के विषय में हम अपने हृदय की संकीर्णता का वर्णन नहीं कर रहे, हम तो केवल वस्तु-स्थिति का पता बता रहे हैं कि कैसे यहाँ की काव्यालोचन-शैली रीति-स्कूल की रूढ़-रीतियों को दाएँ बाएँ छोड़ कर आज यहाँ तक आ पहुँची है, 'अप-टु-डेट' या 'माडर्न बन-गई'।

भारतेन्दु ने आधुनिक हिंदी साहित्य की एक 'अष्ट-धातुमयी' प्रतिमा निर्मित की, और आचार्य द्विवेदी द्वारा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह-कार्य संपन्न हुआ। प्रतिमा-निर्माण के समय जितने 'माडेल्स' पेश किए गए थे, प्राण-प्रतिष्ठा-समारोह में उसी के अनुपात से 'मंत्र-स्वर' भी सुनाई पड़े। प्रत्येक प्रांत के अभिज्ञ प्रतिनिधि उस अनुष्ठान में आमंत्रित थे। अततोगत्वा हिन्दी-साहित्य की 'सरस्वती' साकार ही नहीं, सजीव, सुगठिता-वयवा एवं सुन्दरी बनकर भक्त-जन को कृतार्थ कर रही।

किन्तु हमें तो यहाँ 'मन्त्र-स्वर' पर ही विचार करना है क्योंकि सभी महर्षि एक-से सिद्धहस्त स्वर-साधक न थे। किसी को उदात्त स्वर पसन्द था, किसी को अनुदात्त, शेष स्वरित को सँभालने में अस्त-व्यस्त थे।

और, इसलिए समारोह-संभार के अनुसार प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई, मेरा अभिप्राय 'पञ्च-प्राण-प्रतिष्ठा' से है। तो भी उस समय की 'सरस्वती'-मूर्त्ति गनीमत थी।

उसके बाद, नव्य-भव्य सोपान से मंद-मंद अवतरण का आरंभ हुआ। हमें इसे विकास ही कहना चाहिये। 'सरस्वती' संयम-दुर्ग से घिरी रहने के कारण, युग की स्वतंत्रतोन्मुख आकुलता के आवेग से पीछे पड़ने लगी। और हिन्दी में नवीन 'इन्दु' का उदय हुआ। उसके पीछे कई-कई तारिकाएँ भी 'नई रोशनी' फैलाती आईं। और चूंकि नवीनता नित्य-नित्य प्रगतिशील है, आज सब ओर नया ही नया आलोक फैला हुआ है।

'सरस्वती' से ही नियमित रूप से आलोचना को एक सुदृढ़ स्तंभ मिला। आचार्य द्विवेदी, पंडित पद्मसिंह शर्मा आदि आदिम आधार बने। श्रेणी विभाग के हिसाब से, आधुनिक हिन्दी में आलोचना की तीन क्रमिक विकासशील श्रेणियाँ अब तक सामने आ चुकी हैं। पहली श्रेणी को हम 'क्लासिकल' कह सकते हैं, दूसरी को 'रोमांटिक' और तीसरी को 'प्रोग्रेसिव' या प्रगतिशील। यह क्रम-विभाग भी काव्य के परिवर्तनशील स्वरूप को लक्ष्य कर ही किया गया है।

पहली श्रेणी के आलोचकों में आचार्य द्विवेदी, पंडित पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, लाला भगवान दीन, मिश्रबंधु, श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल विशेष उल्लेख्य हैं। यों तो द्विवेदीजी पथ-प्रदर्शक मात्र रहे। लाला भगवान दीन एक प्रामाणिक टीकाकार; ब्रज हिंदी के 'मल्लिनाथ'। रामनरेश त्रिपाठी और मिश्रबंधु एक प्रकार से हिंदी के विकासोन्मुख साहित्य-सगीत के केवल स्वर-लिपिकार। श्यामसुन्दर दास पश्चिमी साहित्यिक सम्मान्य सिद्धान्तों की हिंदी में प्रतिध्वनि करने वाले, परिचायक। पद्मसिंह शर्मा और कृष्णविहारी मिश्र हिंदी में तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक। किंतु सब मिलाकर, पद्मसिंह शर्मा की भाषा-प्रधान

आलोचन-शैली क्रमशः भावोन्मुख होती हुई रामचन्द्र शुक्ल के समीप आकर पूर्ण प्रौढ़ एवं पुष्ट हो गई है। वस्तुतः रामचन्द्र शुक्ल ही उस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। आपकी तुलसी-जायसी आदि पर की हुई गंभीर आलोचनाएँ किसी भी साहित्य का मुख उज्जवल करनेवाली आलोचनाओं के आगे उन्नत-मस्तक एवं तेजस्वी सिद्ध होंगी। इस प्रकार ब्रज-भाषा के मरे हुए कवियों के अमर साहित्य की प्रामाणिक आलोचनाएँ खड़ी बोली के प्रथम सुव्यवस्थित काल - द्विवेदी-युग में हुईं। यहाँ हम अपने जिस दृष्टिकोण की बार-बार याद दिला रहे हे, तदनुसार विचार करने पर ज्ञात होगा कि द्विवेदी-युग के जीवित आलोचक अपने ही समय की, नई (शैली) कविताओं की आलोचना में निर्जीव सिद्ध हुए। मेरा संकेत पंत-प्रसाद-निराला और महादेवी की सुन्दर रचनाओं की ओर है, जिन्हें रोमांटिक या छायावादी काव्य कहा जाता है। फिर 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' इस उक्ति पर भी वे कायम नहीं रह सके, क्योंकि वे कटु-कुत्सित शब्दों की कटकित मालाएँ पहिनाकर अक्सर उनका स्वागत करते रहे, केवल प्रशंसा करने से ही उन्हें परहेज रहा।

गुप्त और हरिऔध तो खड़ी बोली के पौराणिक कवि हैं। उनकी नवीनता रीति-स्कूल के आलोचकों के लिए प्राचीन ही थी, वहाँ तक वे दौड़ लगा लेते थे। किंतु उनकी विस्तृत आलोचनाएँ भी सुस्पष्ट रूप मे छायावादी युग मे ही हुईं, उन पर कई-कई पुस्तकें लिखी गईं।

छायावादी कविताएँ प्राचीन दृष्टि में कुछ जँचती न थीं, उनकी अछूती सुन्दरता को वह छू नहीं पाती थी। आज 'सिंह' कवि का 'हुआँ-हुआँ' पत्र-पत्रिकाओं के मुख-पृष्ठ पर सतरंगी स्याहियों से छापा जाता है, मगर उस समय 'निराला' की 'जुही की कली', 'शेफाली' 'सरस्वती-पूजा की 'साजी' में नहीं सजाई जाती थी, मंदिर का कूड़ा फेंकनेवाली टोकड़ी में पड़ी रहती थी। ऐसा था वह सांप्रदायिक युग। मंदिर के फाटक पर ही मोचे-मोटे अक्षरों में लिखा रहता था—"मत्सेवकेतराणां (नव-पथ-

पथिकानाम्) प्रवेशो निषिद्धः ।' हाँ, तो प्राचीनों ने उन्हें फिर से 'खद्योत' होने का अमिट अभिशाप देकर गुप्त और हरिऔध को मानों 'बाल्मीकि और व्यास; तुलसी और सूर;-अर्थात् 'सूर' और 'शशी' होने का वर दिया। किंतु समय से बढ़कर निष्पक्ष आलोचक और कोई नहीं। कविता के सौभाग्य से 'बाल्मीकि' और 'व्यास' 'त्रयी' के आगे मंद पड़ गए। इस युग का काव्य-प्रतिनिधित्व पंत-प्रसाद-निराला के हाथों रहा।

शुक्लजी ने एक वृहत् ग्रंथ लिखकर छायावादी कविताओं का परिहास करना चाहा, किंतु उसका निबंधात्मक उत्तर 'प्रसाद' जी ने दे दिया। यह एक कटु सत्य है कि इस युग पर शुक्लजी की आलोचनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। 'पल्लव' की भूमिका में पन्तजी ने नवीन आलोचकों को आमंत्रित किया। निरालाजी ने तो अपनी (काव्य) धारा के द्वारा साफ-साफ कहला दिया—

बहने दो, रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की, किसे देख झुकती है ?

जिस प्रकार 'पल्लव' की छाया पर उस समय के अनेक छायावादी कवि चल निकले, उसी प्रकार 'पल्लव' की भूमिका ने भी आगे चल कर सुन्दर हिंदी में मधुर विचार उद्‌गार प्रकट करनेवाले एक हृदयस्पर्शीय व्यक्ति को व्यक्त किया। शांतिप्रिय द्विवेदी का काव्यालोचन बहुत कुछ वैसी ही भाव-भंगिमा की भूमि पर है।

निरालाजी के लेखों ने तात्कालिक काव्यालोचना को एक नई ही दिशा के दर्शन कराए। पंतजी के बारे में सबसे पहला लेख निरालाजी ने ही लिखा था। आप कीशैली काव्यमय एवं रोचक तो हैं ही, प्रौढ़ तथा परिष्कृत भी है। आपके काव्य-संबंधी सिद्धान्त भी अपने हैं। वे सर्वमान्य चाहे न भी हों, किंतु मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण तो है ही। आपकी लिखी 'प्रबंध-पद्‌म' और 'प्रबंध-प्रतिमा' 'चाबुक' आदि पाण्डित्य-पूर्ण पुस्तकें निर्भीक काव्यालोचन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

प्रसाद जी के काव्यालोचन—सम्बन्धी निबंध शास्त्रीय बोझ से बोझिल हैं। उनकी भाषा नीरस तथा भाव दुरूह हैं। उनके संपूर्ण साहित्य में जो बौद्धिकता बोलती है, वह यहाँ उग्र रूप धारण कर बैठी है। हम कहते हैं, उनमें जितनी प्रौढ़ता है, उतनी स्वाभाविकता नहीं; जितनी विदग्धता है, उतना रस नहीं; जितनी चेतना है, उतना आनन्द नहीं है।

श्यामसुन्दर दास और शुक्लजी द्वारा रीति स्कूल के काव्यालोचन-लोक मे जो पाश्चात्य आलोक आ पहुँचा था, दूसरी श्रेणी के आलोचक वर्ग ने उसमें अन्य-अन्य रंगों की रंगीनी भरना शुरू कर दिया। इस श्रेणी के प्रमुख आलोचक समयानुसार प्रायः इस प्रकार हैं—पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, गुलाब राय, नंददुलारे वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी रामनाथ 'सुमन', शांतिप्रिय द्विवेदी और हजारी प्रसाद द्विवेदी।

बक्शीजी का 'विश्व-साहित्य' हिन्दी में अपने ढंग का अकेला ग्रंथ है। इधर 'जैनेन्द्र के विचार' भी एक सुन्दर प्रकाशन हुआ है। किंतु आलोचनात्मक विकास की दृष्टि से इन दोनों में कोई तुलना नही।

गुलाबराय द्विवेदी-युग की साम्प्रदायिकता मे पनप कर भी नवीनता को अपनाने मे शुक्लजी की भाँति अनुदार नहीं रहे हैं। यह दूसरी बात है कि उनका कोई मौलिक सिद्धांत नहीं, आलोचना की शैली पर कोई अपनी खास छाप नहीं है, सब मिलाकर वह एक सम्पादकीय ढर्रे के चलते आलोचक हैं, किंतु हम उनकी प्रौढ़ सहृदयता के कायल हैं। जो हमारे विचार से आलोचक का आदर्श गुण है।

पंडित नंददुलारे वाजपेयी इस वर्ग के एक विशिष्ट विद्वान आलोचक हैं। छायावाद को, जिस समय, काव्य-प्रेत की छाया समझ कर लोग डरते थे, उसी समय स्व-संपादित 'भारत' की लेख माला में उन्हों ने उस युग के प्रत्येक प्रमुख कवि की धारावाहिक आलोचना की थी। पंत-प्रसाद-निराला के लिए 'त्रयी' या 'बृहत्त्रयी' शब्द का प्रयोग प्रथम-प्रथम

उन्हीं ने किया था। हम मानते हैं, छायावादी कविताओं पर शुक्लजी की तरह गुरु-गंभीर शैली में वह आलोचना लिख सकते हैं। यों तो, सूर-साहित्य के वे विशेषज्ञ है।

इलाचन्द्र जोशी की आलोचनाएँ आरंभ ही से आविष्ट सिद्धांत पर चली हैं, और अब तो वह अत्यंत अद्भुत शैली पर आ गई हैं, अभी-अभी पिछले दिनों 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'छायावाद का नाश क्यों हुआ ?' उसका एक प्रमाण है। हमने उसका उत्तर 'छायावाद चिरंतन है' शीर्षक निबंध में अन्यत्र दिया है, यहां उस प्रसंग से रसभंग हो जाने का भय है।

रामनाथ 'सुमन'-लिखित 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' इस युग की एक सुशृंखलित आलोचना-पुस्तिका है। हालाँ कि यह उर्दू-संस्कृति का तर्ज लिए हुए एक आलोचनात्मक 'दाद' है, किंतु तारतम्य में उद्गारों को सजा देने के कारण यह एक अच्छी चीज हो गई है।

हमारा खयाल है, छायावादी (पंत-प्रसाद-निराला-महादेवी) कविताओं का काल, नई हिंदी के काव्य-साहित्य का स्वर्णयुग था। किंतु उसी समय नहीं, आज तक भी उच्चकोटि की आलोचनाओं द्वारा उस युग की विशेषताओं का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। इसका कारण और लोग चाहे जो बताएँ, हमारे पूर्वप्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार निश्चय ही यह है कि उसके निर्माण-काल में यह कार्य अत्यंत कठिन था, अब वर्तमान प्रगतिशील युग में कदाचित् वह हो।

क्योंकि छायावादी भावनाएँ साधारण जनता के बोध-गम्य भावों से बहुत ऊँची रहकर आरंभ ही से प्रकट हुई थीं, फिर 'तुलसीदास' और 'कामायनी' तो जनता की मनःस्थिति को बहुत पीछे छोड़कर आगे निकली हुई वस्तु हैं। ऐसी दशा में जनता का साथ छूटता जाना स्वाभाविक ही था। इधर विश्व-प्रांगण में नित्य-नित्य बढ़ती हुई जड़वादिता के अनुकूल जनवाद की सीधी-सादी बातें भी जोर मारने लगीं; ज्यादा अच्छी लगने लगीं। और स्वाभिमानी छायावाद सामंतशाही मनोवृत्ति- की तरह इने-

गिने लोगो के बीच ही सम्मानित होता रह गया।

उसका सर्वांगीण अध्ययन जैसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। अत्यंत प्रयत्न पर भी उसे 'बढे चलो, बढे चलो, कामरेड्स, बढे चलो' के साथ 'क्विक मार्च' करना न आ सकने के कारण लज्जित होना ही पड़ा। क्योंकि बाजारू आलोचक उसे झटपट न समझ सकने के सबब, और प्रगतिशील श्रेणी में से अपना नाम कट जाने के खौफ से भी झुँझला कर जल्दी-जल्दी चलते बने।

क्योंकि प० रामचन्द्र शुक्ल की तरह स्थिर, गंभीर, धुरंधर आलोचक फिर नहीं आया। सुस्पष्ट शब्दों में, किसी भी एक आलोचक में छायावादी कविताओं की अखिल-निखिल विशेषताओं को अधिकारपूर्वक, सम्यक् रीति से, समझने-समझाने की योग्यता नहीं दीख पड़ी। संस्कृत हिंदी-अंग्रेजी-बंगला की प्राचीन-नवीन अशेष काव्य-धाराओं की सम्मिलित कल्लोलिनी के अन्तःस्तर से भरकर निकली छायावाद की संक्रात सरणि की सुपरिष्कृत व्याख्या नहीं हुई। यद्यपि स्वयं छायावादी कवि भी उसे अत्यन्त आकस्मिक नहीं मानता। वह तो अतिशय विनम्र शब्दों में निवेदन करता है कि -

'विश्व की हो वाणी प्राचीन,
आज राका बन गई नवीन।'

किंतु फिर भी इस युग में नाना मुनियों के नाना मत सुनने को मिले, जिनसे भविष्य के मार्मिक आलोचक को पर्याप्त प्रकाश प्राप्त रहेगा। अस्तु।

शांतिप्रिय द्विवेदी की काव्यालोचन शैली सर्वाधिक मधुर, मनोहर एवं अपना अपनापन लिए हुए है। हम कहें, जिस प्रकार छायावादी कवियों ने छोटे-छोटे गीतिकाव्यों के माध्यम से अपने हृदय के उद्‌गार व्यक्त किए हैं, उसी प्रकार इन्होंने भी छोटे-छोटे गीतिकाव्यात्मक निबंध (Lyrical criticism) लिखे हैं। इन निबंधों की संगीतझंकृत भाषा जैसे तरल तरंग है और उसके भीतर भावुक आलोचक का अमल अंतरंग।

इनकी 'साहित्यिकी' 'संचारिणी' 'कवि और काव्य' आदि पुस्तकें अपनी शैली की सहज सरसता से ओतप्रोत हैं। हिंदी के नवीन काव्यों पर इनसे अधिक आत्मीयता एवं ममता से और किसी ने नहीं लिखा है।

किंतु इनकी आलोचनाएँ विवेचनात्मक कम और उद्गारात्मक अधिक हैं। उनसे मानस को सुस्वादु रस मिलता है, मगर मस्तिष्क को पुष्ट खाद्य पदार्थ नहीं। और हमारे विचार से आदर्श काव्यालोचन विवेक तथा सहृदयता, दोनों की संतुलित अपेक्षा करता है। एक बात और। हिंदी के अतिरिक्त अन्य किसी समृद्ध भाषा-साहित्य की विशेष निकटता न प्राप्त होने के कारण जहाँ इनमें अपनेपन का वासंतिक विकास हुआ है, वहाँ तुलनात्मक समीक्षा के प्रचुर साधन के न रहने, विश्व-साहित्य की विभिन्न-प्रवृत्तियों का सामीप्य प्राप्त न होने के कारण लेखनशैली में एकरसता या पुनरावृत्ति का दोष भी आ गया है। एक प्रकार से, इन्होंने, सब मिलाकर हिंदी-काव्य-परम्परा का गीतिमय भाषा में एक संक्षिप्त, सुन्दर इतिहास लिखा है, जो समसामयिक अन्य साहित्यिक इतिहासों के मुकाबले अधिक विश्वसनीय एव प्रामाणिक है।

पंतजी आपके 'आदर्श' (कवि) हैं। 'पल्लव' से 'युगान्त' तक जिस प्रकार गीति काव्य के भीतर से उनका विकास हुआ है, ठीक उसी प्रकार 'हमारे साहित्य निर्माता' से लेकर 'संचारिणी' तक काव्यालोचन के भीतर से आपका। और अब, जब पन्तजी ने 'युग-वाणी'—'ग्राम्या' आदि 'युग-साहित्य' लिखना शुरू किया है, आप भी 'युग और साहित्य' लेकर आगे आ रहे हैं।

हम इनकी विशेष प्रशंसा इस लिए करते हैं कि इन्होंने शुक्लजी, प्रसादजी और वाजपेयीजी की शुष्क, सघन शैली के द्वारा भयंकर एवं दुर्गम जान पड़नेवाले हिंदी-काव्यालोचन-पथ को प्रशस्त एवं आकर्षक बना दिया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत और बंगला का गंभीर अध्ययन लेकर आए हुए इस युग के एक आदर्श विद्वान एवं सर्व-सम्मानित आलोचक हैं। 'विशाल भारत' में आपकी जब-तब जो आलोचनाएँ निकली हैं, उनमें

विदग्धता के अतिरिक्त एक सुलझाव का भाव भी पाया जाता है। आपकी शैली स्वच्छ एवं प्रांजल है। पद-पद पर आपके अध्ययन-मनन और अनुभूति की गंभीर अभिव्यक्ति होती रहती है। सूरदास पर आपकी अच्छी आलोचना प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' भी आपकी विकसित लेखन-शैली का एक नमूना है। निश्चय ही आपके द्वारा भी छायावादी कविताओं को कोई अनालोकित आलोक नहीं प्राप्त हुआ, कम-से-कम हमें जिसकी अत्यधिक आशा थी, किंतु तथापि आपके द्वारा हिन्दी को एक निष्पक्ष प्रामाणिक आलोचक मिला है, इसमें संदेह नहीं।

४

इस प्रकार द्विवेदी-युग से छायावादी युग तक जितने भी काव्य और काव्यालोचन के आदर्श आए, उनमें परस्पर विभेद, ऊँचाई-नीचाई, चढ़ाव-उतार रहने पर भी एक भावना बराबर बनी रही, जिसे हम विशुद्ध साहित्यिक भावना कह सकते है। यहाँ तक अंग्रेजी-साहित्य या रवींद्रनाथ की अनुप्रेरणाओं का प्रभाव काव्यात्मक रूप में ही रहा। किन्तु इसके बाद साहित्य धीरे-धीरे राजनीति की पोशाक पहनने लगा। गाँधीवाद और समाजवाद ने प्रगतिशील युग को जन्म दिया।

हम मानते हैं कि कालिदास का काल काव्य-कला के उच्च शिखर पर पहुँच जाने के कारण अत्यंत स्पृहणीय था, किन्तु जिस प्रकार आगे बढ़े जाते युग ने उसे हमेशा के लिए एकरूप, अचल, स्थिर नहीं रहने दिया, उसी प्रकार 'पल्लव' से 'यामा' तक नई हिन्दी की काव्य-कला के निखर उठने पर भी प्रगतिशील युग में उसकी अनावश्यकता की पुकार उचित ही हुई।

'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के बाद 'भारवि' का 'किरातार्जुनीय या 'माघ' का 'शिशुपालवध' कितना भी नीरस क्यों न लगे, लेकिन उसकी रचना कालिदास को पीछे छोड़कर आगे बढ़े निपुण युग में ही हुई थी।

शेक्सपियर और इब्सन के साथ बर्नार्ड शा कितने भी हल्के क्यों न लगें, वह आगे बढ़े, या समकालीनता का प्रतिनिधित्व करनेवाले ही समझे जाते हैं। लेकिन हाय ! यह उपमाएँ कितनी अयोग्य एवं भ्रांतिमूलक हुई। यहाँ भारवि या शा कहाँ? यहाँ तो 'सांध्यगीत' के बाद 'रोटी का राग' अलापा जा रहा है! 'गुंजन' के साथ मोटर की 'पों-पों' सुनने को लाचार किया जा रहा है।

एक ओर 'पल्लव' का सुकुमार कवि 'कार्ल मार्क्स' का अभिनन्दन-पत्र लिख रहा है, तो दूसरी ओर 'हुंकार' का राष्ट्रीय कवि 'द्वंद्वगीत' गाता और 'अरी ओ रसवंती सुकुमार' पुकार रहा है। कुछ अजीब उलटफेर, अन्धेर देखने में आ रहा है विशुद्ध कविता के लिए यह आत्महत्या कर लेने की प्रेरणाएँ भरनेवाला युग है। नहीं, साहित्य की सर्वांगीण क्रांति के भीतर से क्या काव्य, क्या काव्यालोचन, सब में एक नवीन जीवन-संचार करने को आकुल है यह विकल विश्व-युग। इस नव-जीवन-डाल पर पूर्व युग से ही धीरे धीरे विकसित होने वाले कुछ कवि इधर विशेष रूप से निखर उठे हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत, नवीन, भगवतीचरण, बच्चन, अज्ञेय और दिनकर इस श्रेणी में उत्कृष्ट समझे जाते हैं। श्रीसुमित्रानंदन पंत तथा बच्चन का दृष्टि-क्षेत्र अन्य तीनों से विशाल है। उनका कवि तीक्ष्ण क्रांतदर्शी है; सुकुमार पारदर्शी है। यदि बच्चन इस युग से पहले आते, तो शायद पंत के बाद उन्हीं की गणना होती। यों अब भी नवयुवक समाज पर उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है।

किन्तु यह काल वस्तुतः गद्य का है। 'अज्ञेय' 'जैनेन्द्र' जैसे कलाकार ही प्रगतिशील युग की स्थायी देन हैं। पंत का गद्य-गीत भी काव्य विकास के इतिहास का एक रोचक पृष्ठ होगा।

इस समय काव्यालोचन का भी अपना एक अलग ही रंग है; निराला ही ढाँचा है; जिसे हम सूखी 'भाखा' में बिल्कुल बाजारू कह सकते हैं। किन्तु उपर्युक्त कुछ कवियों की भाँति कुछ प्रामाणिक

काव्यालोचक भी आगे आए हैं; जिन पर हमें भरोसा करना चाहिए।

प्रो० नगेन्द्र, सत्येन्द्र, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, और शिवदान सिंह चौहान इस वर्ग के विशिष्ट व्यक्ति हैं।

इनमें नगेन्द्र से प्रकाशचन्द्र तक की अनेकशः आलोचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, श्री प्रभाकर माचवे अभी नित्य-नित्य विकास पर हैं।

रामविलास शर्मा की शैली पाश्चात्य, परिमार्जित एवं प्रगतिशील है, दृष्टिकोण अत्यंत उग्र तथा प्रखर है। निरालाजी की निजी बौद्धिक साहसिकता का जैसे इन्हें नवीन प्रतिनिधित्व प्राप्त है। ये हिन्दी और राष्ट्रीयता के इतने कायल हैं कि इन्हें रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि से मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती अधिक भाती है; शरच्चंद्र से प्रेमचन्द ज्यादा जानदार जान पड़ते हैं। अभी-अभी 'हंस' में प्रकाशित इनका 'शरचन्द्र चटर्जी' कृष्णानन्द गुप्त के 'प्रसाद जी के दो नाटक' की भाँति मौलिक और मनोरंजक है। दृष्टिकोण की यह ऐसी एकांगिता हिन्दी के हित की उतनी घातक नहीं, जितनी घातक पिछले दिनों 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित किसी 'प्रोफेसर साहब' की लिखी हिन्दी-कविता की आलोचना या इलाचन्द्र जोशी की 'छायावाद का नाश क्यों हुआ ?'– जैसी आलोचनाएँ हैं।

इस श्रेणी के आलोचक भी पिछले खेवे के साहित्य से प्रभावित हैं, केवल शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण खालिस समाजवादी है। किसी भी एक आदर्श पर कायम रहकर काव्य-भावना का प्रसार पाप नहीं है। समाजवाद साहित्य से बाहर की वस्तु नहीं। वाद कोई हो, हमें तो साहित्य चाहिए। साहित्य की व्यापकता में सभी वाद विलीन हो जाते है। हम चिंतित वहीं होते हैं, जहाँ साहित्य की एक झंकार भी नहीं और वाद का डिंडिमनाद सुनाई पड़ता है।

विकास का अर्थ बहुत लोग विचित्र ही समझते हैं। कदाचित् उनके विचार से वेद से रामायण, तुलसीदास से सुमित्रानन्दन पंत अधिक विकसित हों। किन्तु हम विकास का तात्पर्य विस्तार, काल क्रमानुसार

बढ़ने-फैलने चले जाना मात्र मानते हैं। हमारे विचार से, वैदिक-काल से आज तक काव्य का क्रमशः ह्रास ही हुआ है। और भविष्य तो अत्यंत अन्धकारमय मालूम पड़ता है।

इसी प्रकार आलोचना का विकास भी ढालू भूमि पर ही हुआ है। जहाँ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के 'मम्मट भट्ट' या 'मैथ्यू आर्नल्ड' कहे जा सकते हैं, वहाँ अन्य आलोचक अभी सम्पूर्ण अर्थ में आलोचक की आख्या ग्रहण करने के भी अधिकारी नहीं प्रतीत होते। आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली अधिकांश आलोचनाएँ महज खिलवाड़ रहती हैं। प्रशंसा-विनिमय के द्वारा, जिनके पास पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग-साधन प्राप्त है, अपने को कुछ अनधिकारी व्यक्तियों ने बहुत ऊँचा उठा लिया है, जिसके फलस्वरूप वह अपने अन्य श्रेष्ठ साहित्यिकों को गतिहीन तथा मृत तक कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। हिन्दी में कुछ ऐसे हवाई साहित्यिक उच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं, जिनके जीवन से यदि प्रोपेगैंडावाला अंश निकाल लिया जाय तो अपने साहित्य के बल पर वे वास्तविक श्रेष्ठ साहित्यिकों के व्यंग्यचित्र बन जायँ। दुःख है कि 'छायावाद' से चिढ़ने वालों ने 'प्रकाशवाद' को प्रश्रय न देकर 'प्रचारवाद' को बढ़ावा दिया है। जब कोई प्रचारवादी साहित्यिक किसी पत्रिका के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित अपनी कविता की आप आलोचना करता हुआ कहता है कि अहा! मैं पिछले खेवे के कवियों से कितना आगे आ गया, तो हमें रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियाँ याद आ जाती है—

["कत बड़ो आमि, कहे नकल हीराटि !
ताई तो सन्देह करि नह ठिक खाँटि !"]

एक व्याधि और आ गई है। सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रदर्शनार्थ, योग्य-अयोग्य सब के सब विकल-बेकल हैं। इसलिए किसी भी एक सुनिश्चित दिशा में समुचित सफलता नहीं मिल रही। हमने देखा, शुक्लजी जैसा धुरन्धर आलोचक रोमैंटिक कवियों को 'एप्रिशिएट' नहीं कर

सका; फिर जिनका अध्ययन-मनन अपेक्षाकृत अपर्याप्त है, जब वह साहित्य की सभी शाखा-प्रशाखाओं पर खिलने के लिए मुरझाते जाते हैं, तो हमें आँसुओं से धुली हँसी आ जाती है।

यदि एक आलोचक पूर्ण योग्यता के साथ किसी एक कवि की, किसी एक कविता की भी सर्वांगसुन्दर, मर्मस्पर्शिनी समीक्षा लिख सके तो वह अधिक आदरणीय एवं स्थायी हो। आशा है, ढेरका ढेर कतवार पार कर जब भविष्य का आलोचक लेखनी उठाएगा, तो वह 'क्वांटिटी' की अपेक्षा 'क्वालिटी' का ही ज्यादा खयाल रखेगा।

क्योंकि आज का काव्य भी कदाचित् 'ग्राम्य गीत' के बाह्य स्तर तक उतर कर फिर किन्हीं नई स्थायी काव्योचित रूपरेखाओं को ग्रहण करे! हमें तो विश्वास है, पतन के बाद उत्थान का अवसर आता ही है।

'If winter comes, can spring be far behind?'

जनवरी, ४१



हिन्दी काव्य की राष्ट्रिय धारा

पहले पहल भारतेन्दु ने हिन्दी में राष्ट्रियता की ओर संकेत किया, उनकी राष्ट्रियता का आधार भारत के अतीत गौरव और वर्त्तमान पतन का ध्यान था। अतीत पर आसक्ति और वर्त्तमान से असंतोष, ये रोमाण्टिक कल्पना की ही देन हैं और इस प्रकार हिन्दी कविता में रोमान्टिसिज्म के पहले बीज बोने का श्रेय भी जैसे-तैसे भारतेन्दु को ही है। जो हिन्दी कविता उनके समय तक प्रायः परम्परागत भावों को ही लेकर बोल रही थी उसे उन्होंने जीवन की ओर उन्मुख किया। जीवन के आध्यात्मिक विस्मय और भौतिक विलास के शास्वत स्वर से पूर्ण सरस्वनी को उन्हों ने जीवन की सामयिक दशाओं पर रोने के लिये विवश किया और हिन्दी काव्य में एक वैविध्य और जोड़ दिया। भारतीय परम्परा के अनुसार अबतक जीवन का वह रूप प्रधान था जो जन्म-जन्मातर तक समव्यापी रहता है। एक विधाता कवि ने उसके क्षणिक अथवा समकालीन रूप को चित्रित किया,—यह भले ही कहा जाय कि वह रूप केवल नया प्रयासमात्र था, सजीव और सफल चित्रण नहीं। लेकिन हम देखते हैं कि भारतेन्दु के बाद की धारा की सबसे बड़ी विशेषता साहित्य में समकालीनता का समावेश है। 'भारत दुर्दशा' के साथ हिन्दी में जो नई दिशा प्रकट हुई वह जीवन-दर्शन का प्रतीक थी। अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी में उन भावों का प्रवेश होने लगा जिन्हें हम वस्तुवाद कह कर पुकारते हैं। जीवन के अत्यन्त निकट आने के प्रयास में काव्य ने व्रजभाषा के पुराने पट को जारी रखने के आग्रह का विरोध किया और भाषा के उस रूप को अपनाया जो समकालीन जीवन की वाणी थी। खड़ी बोली की विजय हिन्दी साहित्य में वस्तुवाद अथवा जीवन के सामीप्य की प्रतिष्ठा का स्पष्ट संकेत था। द्विवेदी-युग की खड़ी बोली की कविताएँ रुक्ष और नीरस हुईं, उनमें भारतेन्दु-युग के रस का स्पष्ट अभाव था लेकिन उनके भीतर जीवन का वह अभिनव स्वर सन्धान था जिसे हिन्दी कविता ने

भारतेन्दु से प्राप्त किया था। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारतेन्दु का ही विकसित रूप 'भारत भारती' में प्रकट हुआ। लेकिन तब तक भारत-भारती के कवि की दृष्टि उस सीमा से आगे नहीं जा सकी थी जहाँ तक भारतेन्दु ने बहुत पहले देख लिया था।

"आवहु सब मिलि के रोवहु भारत भाई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

की अपेक्षा

"जो कोकिला नन्दन विपिन में प्रेम से गाती रही
दावाग्नि दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।"

में विदग्धता की मात्रा अधिक भले ही हो, दृष्टि का अधिक विस्तार नहीं है। दोनों के भीतर का सत्य एक ही सीमा के अन्तर्गत है, भारत का अतीत उज्जवल था; वर्त्तमान दयनीय है। राष्ट्रियता की आधारभूत भावना घृणा है और इस दृष्टि से भारतेन्दु का राग अधिक प्रबल था। स्पष्ट ही—

'सचमुच ब्रिटिश सरकार ने हमको बहुत कुछ है दिया' की अपेक्षा

"अंगरेज राज सुख साज सज्यो अति भारी
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।"

में राष्ट्रियता का रूप अधिक प्रखर और उसकी भाषा अधिक उग्र है। भारत-दुर्दशा की इस पंक्ति में अंग्रेजी शासन पर एक अभियोग है जो राष्ट्रियता के अर्थ-पक्ष की दलील है। भारत-भारती में इस indictment का सर्वथा अभाव है।

इसी समय के आस-पास श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, हरिऔध और सनेही जी आए। हरिऔध और उपाध्याय जी पण्डित कवि थे और इनकी कविताएँ श्रव्य काव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण के रूप में सामने आईं। अपने समकालीन कवियों के प्रभाववश इन्होंने जीवन के समकालीन रूप को जब तब छुआ तो सही लेकिन प्रधानतः ये वे ही बातें कहते रहे जिन्हें ग्रन्थों में पढ़ चुके थे। श्रीधर पाठक सत्कवि के रूप

में इनलोगों से पहले आ चुके थे। उन्होंने हिमालय और काश्मीर सुषमा को चित्रित किया, देशभक्तिपूर्ण गीत भी लिखे और अन्त में खड़ी बोली को अपनाया भी। सनेही जी का स्वर भी देश-भक्ति से ओत-प्रोत रहा और जीवन की समकालीनता उनकी रचनाओं में प्रधान रही। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि इन कवियों के समय में राष्ट्रियता का कङ्काल तैयार हो चुका था और वह (राष्ट्रियता) स्पष्ट रूप से हिन्दी कविता का अंग बनने जा रही थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की 'भारत-दुर्दशा' में हम रोमाण्टिक कल्पना का एक हल्का-सा स्पर्श पाते हैं। रोमाण्टिक भाव जीवन के विद्रोह का नाम है और वह पहले वर्त्तमान के प्रति असंतोष के रूप में प्रकट होता है। दलित जातियों में जब यह भावना आती है तब वह पीछे की ओर भी देखती है और अतीत को वर्त्तमान की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल समझती है। भारत-दुर्दशा मे इन दोनों गुणों का प्रतिबिम्ब है और उसके बाद के कवियों मे तो प्रायः ये ही गुण प्रधान रहे।

लेकिन रोमाण्टिक कल्पना का एक दूसरा रूप भी है। कल्पना-प्रधान, भावुक और सुकुमार दृश्यो में वह स्वप्नशीलता और सैद्धान्तिक उग्रता को प्रेरित करती है। जो युग अपनी वर्त्तमान अवस्थाओं मे संतुष्ट नहीं रहता और उनमें परिवर्त्तन लाना चाहता है, उसके कवियों मे व्यंग की शक्ति अधिक होती है वह व्यंग जो परम्परा को तोड़ना चाहता है। परिवर्त्तन अथवा क्रान्ति का पहला कदम विध्वंस और अराजकता का प्रयास होता है। विगत महायुद्ध के आस-पास भारतीय जीवन में जो घटनाएँ घटित हुई थीं वह रोमाण्टिक भावों के कर्म-पक्ष की देन थीं। साहित्य के अन्दर काम करने वाले लोग--गुप्त जी, सनेही जी और रामचरित उपाध्याय आदि इस कर्म-पक्ष के अधिक समीप थे, इसीलिए उनमें वह रस नहीं रहा जो रोमाण्टिक युग की कविताओं में होना चाहिए था दरअसल वह युग अभी प्रारम्भ भी नहीं हो पाया था, बल्कि हिन्दी में घुसने के लिए अपना प्रवेश-मार्ग तैयार कर रहा था।

युद्ध के समाप्त होते-होते निराला, प्रसाद और पन्त का उदय हुआ जो हिन्दी के रोमाण्टिक काव्य के त्रिदेव माने जाते हैं। साहित्य की धारा को एक स्थान पर विभाजित करना कठिन है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह नया आन्दोलन पहले पहल किस कवि की वाणी पर चढ़ कर आया था। व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से युगों का विभाजन किया जाना ही अधिक न्याय-संगत है। वस्तुतः काव्य के वर्गीकरण का लक्ष्य समय नहीं, बल्कि भावनाओं का वर्गीकरण है। इस दृष्टि से गुप्त जी उस युग के नेता हैं जो निराला जी के आगमन से पहले ही बीत चुका है। यों उस युग में लक्ष्मण सिंह "मयंक" जैसे कवि हो चुके थे और स्वयं निराला जी ने भी "जुही की कली" की रचना आज से लगभग ३० वर्ष पहले ही की थी।

इन कवियों के आगमन के साथ रोमाण्टिक कल्पना ने अपने पूर्ण रूप का प्रसार किया। जीवन की रूक्षता सिद्ध हो गई और यह स्पष्ट हो गया कि नये कवि देश के वर्त्तमान जीवन से असंतुष्ट थे। काव्यात्मा के जाग्रत तेज ने छन्दों के बन्धन तोड़ डाले। रोमाण्टिक धारा के अधिक से अधिक गुणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कवि ने उद्बोधन की ऋचा पढ़ी--

"जागो फिर एक बार
सत-श्री-अकाल
भाल-अनल धक-धक कर जला
भस्म हो गया था काल।
तीनों गुण, तापत्रय
अभय हो गए थे तुम मृत्युञ्जय
व्योमकेश के समान,
अमृत—सन्तान!
तीव्र भेद कर सप्तावरण मरण-लोक
शोकहारी, पहुँचे थे वहाँ, जहाँ आसन है सहस्रार,
जागो फिर एक बार।"

रोमाण्टिक शैली के इन तीन मुख्याधिष्ठाताओं की अपनी-अपनी अलग विशेषताएँ थीं। तीनों के तीनों जीवन की वर्त्तमान हीनता से असंतुष्ट और क्षुब्ध थे। वे कुछ नए तत्व खोज रहे थे; किसी नई दुनिया की तालाश में थे। इनमें से प्रसाद जी पर रोमाण्टिक प्राथमिकता ने सब से अधिक प्रभाव डाला और अन्त तक उनकी आँखें अतीत पर लगी हुई रहीं। बौद्ध सभ्यता के विश्लेषण से आरम्भ करके उन्होंने कामायनी लिखने पर तृप्ति की अन्तिम साँस ली। स्मरण रहे कि यहाँ मैं व्यक्तित्व के मुख्य गुणों का विश्लेषण कर रहा हूँ जिनका ज्ञान हिन्दी काव्य की वस्तुवाद की धारा को समझने में सहायक होगा, कवियों की कलामयता का नहीं।

पन्त जी पर रोमाण्टिक पलायनवाद का प्रभाव सब से अधिक लक्षित हुआ। सौन्दर्य की तृषा से घूमते-घूमते वह मनचीते स्वप्न के सजल-स्वर्गिय संसार में जा विराजे;— पृथ्वी का जो रूप पहले से नापसन्द था उसे भविष्य-कल्पना की रंगीनियों से भरने लगे। कल्पना और स्वप्न की रंगीनियों का थोड़ा बहुत लोभ इस काल के सभी कवियों में मिलता है और यह कवि के लिए आवर्जक वस्तु है भी; क्योंकि सत्य और स्वप्न के दो पंख तो प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक हैं ही। कल्पना का स्वर्ण-जाल सर्वत्र फैल रहा था लेकिन उस पूरे ताने-बाने का रेशमी सूत्र ऊर्णनाभ पन्त जी के हाथ में था। भावुकता, कोमलता, छुई-मुईपन अथवा सुकुमार कल्पना का प्रसार जो इस काल के प्रत्येक कवि में थोड़ी बहुत मात्रा में पाया जाता है, पन्त जी में संघीभूत-सा हो गया है। ※ स्वप्न के स्वर में संगीत भर कर उन्होंने सहृदय संसार को लुभा लिया और स्वप्न-

※ 'खैंच ऐंचाला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार,

जलद्-पट से दिखला मुख चन्द्र,
पलक पल-पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि, धर देती है साकार!'

'आँसू' से

× × ×

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से
फैला कोमल, रोमिल पंख
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पङ्क

—बादल

× × ×

'विपिन में पावस के-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ—सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव!
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान!'

× × ×

—मुसकान

स्वर्ण सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने अलस पलकदल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!

—मौन निमन्त्रण

देश का अश्रुत सन्देश सुन कर दुनिया भी उनकी ओर बढ़े वेग से बढ़ी। पराजित जाति अपने दुःख को भूलना चाहती थी। पन्त जी के पास बैठने से उसका जी बहल जाता था। फूलों के हास और तुहिन बन के उल्लास की बात बड़ी ही मीठी थी। इसके सिवा यह नया संगीत जीवन के सत्य की टीका भी स्वप्न के शब्दों में कर रहा था। * जीवन की पराजय से ऊबे हुए लोगों को और चाहिए ही क्या? मादकता की आवश्यकता थी, वह प्रचुर मात्रा में दी जा रही थी। आध्यात्मिक दृष्टि से पन्त जी की कविताएँ असहयोग आन्दोलन की प्रतिक्रिया का भी परिणाम थीं।

लेकिन रोमाण्टिक जागरण यहीं तक संतुष्ट नहीं था। उसका बल और तेज हिन्दी में प्रकट नहीं हो सका, यह बात नहीं है। पन्त और प्रसाद के साथ एक तीसरा स्वर भी था जो अस्पष्ट होता हुआ भी निरन्तर गूँज रहा था। पता नहीं इस सत्य को स्वीकार करने की उदारता कितने लोगों में है, लेकिन मेरे मत से वह शक्त-सबल स्वर पं० सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का था। क्रान्तिकालीन भारत की आध्यात्मिक व्याख्या करने

* 'तरसते हैं हम आठों याम,
इसीसे सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल'

× × ×

'सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन'

——पन्त

वाले देश के एकमात्र कवि निराला जी ही हैं जिनका स्वर भारतवर्ष के पौरुष का स्वर है; जिनमें छुईमुईपन नहीं, हल्की कल्पना नहीं, सिहरन और टीस नहीं, और न अलस, मदिर, मनोरञ्जन ही है। स्वत्वप्राप्ति के लिए अकुला कर उठने वाले भारत के कण्ठ का स्वर चाहे जहाँ सुनाई पड़े, उसकी जाग्रत आत्मा का संगीत 'निराला' की कविताओं में है। प्रतीकरूप से रोमांसवाद की विद्रोहप्रियता के सारे लक्षण उनमें वर्त्तमान हैं। हिन्दी की रूढ़ि उन्हें सब से पहले अखरी, छन्दों का बन्धन उन्हें स्वीकार नहीं हुआ, साहित्य की प्राचीन शैली से वे सबसे अधिक दूर हैं और सबसे अचरज की बात तो यह है कि हिन्दू भारत के हृदय के अधिक से अधिक पास अगर कोई हिन्दी कवि आ सका है तो वे गुप्त जी और निराला जी है।

इन्हीं कवियों के साथ माखनलाल जी और नवीन जी भी आए जिन्होंने रोमाण्टिक धारा के राष्ट्रीय पक्ष को ग्रहण किया और जिस राष्ट्रियता के कंकाल की सृष्टि द्विवेदी युग में हो चुकी थी उसमें रक्त और मांस भरने लगे। दोनो ही ने जीवन की मादकता को भी छुआ लेकिन व्यक्तित्व और काव्य संगीत की दृष्टि से वे केवल राष्ट्रिय रहे। माखनलाल जी की राष्ट्रियता भावुक पुरुष की राष्ट्रियता है। उनके गीतों में देश के लिए कुर्बानी की पुकार है, दर्द है।

"बिगुल बज गई, चला सब सैन्य, घोर भी होने लगी अथोर,
खाइयां, खोदीं रिपु ने हाय, पार हों कैसे सैनिक घोर?
"पूर दें इनको मेरे शूर शरीरों से"—"दे दिए शरीर?"
इधर यों सेनापति ने कहा, उधर दब गए सहस्रों वीर।
सफलता पाई अथवा नहीं उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण,
विश्व को चहिये उच्च विचार? नहीं, केवल अपना बलिदान।"

और राष्ट्रीय भावना उनकी आत्मा में ऐसी घुली मिली है कि वह भगवान की आराधना भी यह कह कर करते हैं—

"उठा दो वे चारो करकंज
देश को लो छिगुनी पर तान

और मैं करने को चल पड़ूँ
तुम्हारी युगल मूर्त्ति का ध्यान।"

इसी समय सुभद्राकुमारी चौहान ने भी बड़ी ही मर्म-विदारक राष्ट्रिय कविताएँ लिखीं। जिनमें नारी-हृदय की करुणा का वरुणालय ही जैसे लहरें लेने लगा है, राष्ट्र के काव्य-तट को छू-छू कर, धो-धो कर।— 'जलियाँवाला बाग में बसन्त' शीर्षक कविता में उन्होंने वसन्त से कहा है:--

'परिमल हीन पराग दाग-सा बना पड़ा है,
हा, यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है,
आओ, प्रिय ऋतुराज, किन्तु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खा कर,
कलियां उनके लिए चढ़ाना थोड़ी ला कर,
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए है,
अपने प्रिय-परिवार-देश से भिन्न हुए है,
कुछ कलियां अधखिली यहां इसलिए चढ़ाना,
करके उनकी याद अश्रु के ओस बहाना,
तड़प-तड़प कर वृद्ध मरे है गोली खा कर--
शुष्क पुष्प कुछ वहां गिरा देना तुम जाकर;'

एक दूसरी कविता 'राखी की चुनोती' में जैसे भारत भर के भाइयों की इकलौती बहन बन कर वह कहती हैं—

"मैं हूँ बहन किन्तु भाई नहीं है,
है राखी सजी पर कलाई नहीं है,
है भादों, घटा किन्तु छाई नहीं है,
नहीं है खुशी पर रुलाई नहीं है,
मेरा बन्धु—माँ की पुकारों को सुन कर
के तैयार हो जेलखाने गया है,

छीनी हुई मां की स्वाधीनता को,
वह जालिम के घर में से लाने गया है।

*   *   *   *

आते हो भाई ? पुनः पूछती हूँ,—
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको ?
तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको !

'नवीन' जी जाग्रत देश के क्रोध की वाणी है। गांधीवादी होने के कारण अपने ऊपर संयम रखते हैं, किन्तु अन्याय को देखकर तिलमिला उठते है। क्रान्ति के [illegible] का राग उनमें अधिक प्रबल है। कौमी राष्ट्र का पहला नाद 'नवीन' ने किया है, हिन्दी साहित्य मे यह उनकी सब से बड़ी विशेषता है। एक दृष्टि में उन्होंने देश की आजादी के लिए किए जानेवाले हिंसक-अहिंसक सभी प्रयत्नों का सिंहावलोकन किया है और उसी आदर्श मे अपनी आस्था अटल रखी है जो गांधी जी की देन है।

गिरि-गह्वर में, वन उपवन में, अथवा किसी शून्य प्रान्तर मे
भटक रहे कुछ दीवाने है ले आशा-प्रदीप निज कर मे;
भर इनके खप्पर को भर लोहू से नहीं, लाल से आग से,
अरी धधक उठ धक धक कर तू महानाश की भट्टी प्यारी।

नवीन जी ने आर्थिक वितरण की अनुचित पद्धति पर भी दृष्टि फेंकी है और देश की गरीबी को देखकर ऐसा स्वर भी फूंका है जिससे यह मालूम हो कि वह वर्गयुद्ध चाहते है। अगर आज के प्रगतिवाद का आधार और कारण आर्थिक हो तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसका पहला बीज हिन्दी मे 'नवीन' ने बोया।

"जूठे पत्ते" की स्पिरिट भूल जाने की चीज नही है।

एकाकी होने पर भी "भारतीय आत्मा' से जिस प्रकार नवीन विभिन्न है उसी प्रकार पन्त से निराला भी। निराला और पन्त जैसे समानान्तर रेखाएँ हैं जो पास-पास रहकर भी दूर-दूर हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि निराला जी भी रोमांसवादी हो कर ही आए, किन्तु उनकी जो अपनी विशेषताएँ हैं वह अनन्त-अतीत-प्रेमी प्रसाद, अथवा सुकुमार-कलाकार पन्त से मेल नहीं खाती हैं, वह बिलकुल ही भिन्न अस्तित्व के कवि है, और उनका वास उस धरातल पर है जहां तक इनमें से किसी की भी पहुँच नहीं है। निराला की रचना के पीछे हमेशा कोई महान व्यक्तित्व रहता है, जिसके पास कोई बडा सन्देश है, जो कुछ देखने और कर गुजरने के लिए धरती पर आया हुआ है। निराला का तेज सात्विक और गंभीर होता है; उनकी वाणी धुँधली होते हुए भी ऊँची और ठोस है। निराला की रचना आप कहीं से भी उठा लें, कौतुकाकुल बालक की मनोवृत्ति उसमें नहीं मिलेगी। और—

वे किसान की नई बहू की आँखें

"नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई—
विश्व-विभव से मिली हुई,—
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को,—
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें—
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्दकर पाँखें
वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास—हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनियां के कर से
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से!"

*

"वह तोड़ती पत्थर:
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़, वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार:

श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार:—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन, दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू, रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई, प्राय: हुई दुपहर:—
वह तोड़ती पत्थर,
देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार,
देखकर कोई नहीं
देखा मुझे उस दृष्टि से, जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह, नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

—मेरी रचनाएँ तो एक दिशा-विशेष का निर्देश करती ही हैं। केवल दार्शनिक कह कर निराला की चतुरस्र सजगता को नहीं दुराया जा सकता। जिसे लोग दर्शन का बोझीला सत्य समझते हैं, वह हृदय में हलचल मचा देनेवाली व्याकुलता का गम्भीर नाद है; जिसके भीतर से जीवन की सच्ची झाँकी आती है।

'नवीन' जी प्रभृति के साथ ही, उन्हीं दिनों बाबू भगवती चरण वर्मा ने भी (जिनका यह प्रधान दृष्टिकोण कभी नहीं रहा, किन्तु आज तक जिसे वह छोड़ भी नहीं सके) कुछ विद्रोही कविताएँ लिखी थीं। 'कानपुर

मेमोरियल बेल पर' उनमें से एक प्रसिद्ध और सुन्दर कृति है। और,

"चर-चर मर-मर चूं चरर-मरर,
जा रही चली भैंसा-गाड़ी।"

तो उनकी आधुनिक कविताओं में कदाचित् सर्वाधिक ख्यात है।

दिनकर जी ने हिन्दी की राष्ट्रिय-काव्य-धारा के इतिहास में एक नवीन परिच्छेद जोड़ दिया है। इधर प्रायः दस वर्षों में (१६३० से ४० तक) देश में जितनी राजनैतिक हलचलें हुई हैं, कवि ने उन सब को काव्य का ओजस्वी रूप दे दिया है। उनके काव्य के आईने में वर्त्तमान युग प्रतिफलित हो गया है। उनके पूर्ववर्ती किसी भी कवि का प्रधान दृष्टिकोण उनकी तरह खालिस राजनैतिक नहीं रहा। सौन्दर्य्य-सृष्टि उनका ध्येय नहीं। सम्भवतः इसीलिए उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

"रथ में प्रकाश के अश्व जुने हैं मेरे,
किरणों में उज्ज्वल गीत गुँथे हैं मेरे।"

कला की असुन्दर सृष्टि है। इस प्रकार घोड़ों के साथ गीतों को जोत कर काव्य-कला का रथ डगभर भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। पन्त जी यहीं सब से बड़े हैं। युगवाणी और ग्राम्या की विचारोत्तेजक रचनाओं में भी उनका कला-पक्ष दुर्बल नहीं है। अस्तु,

दिनकर के हृदय मे बसनेवाला मनुष्य कवि की अपेक्षा नेता के रूप मे अधिक प्रसिद्ध होना चाहता है।

विद्रोह कभी उसका साधन और कभी साध्य भी है। उसका विद्रोह सुप्त राष्ट्र के पौरुष का महोच्चार है। वह समाजवाद या राष्ट्रवाद से अधिक प्रगल्भ पौरुष को महत्त्व देता है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नही कि उसमें समाजवादी तत्त्व है ही नहीं। क्योंकि वर्तमान की आलोचना तो वह समाजवादी दृष्टि-कोण से ही करता रहा है। सामाजिक संघर्षों एवं असंगतियों पर उसकी तीक्ष्ण दृष्टि है। कहने का तात्पर्य्य यह कि 'रेणुका' से 'हुंकार' तक की कविताओं का अध्ययन करने के अनन्तर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा सकता है कि पिछले दिनों देश के राजनैतिक वातावरण

में जितनी गर्मी जमा हो रही थी उसी का प्रचण्ड ताप दिनकर की कविताओं की किरण बन गया है। 'हुंकार' में वह ताप और भी पूरी मात्रा में है। लेकिन 'रेणुका' में भी 'कस्मै देवाय' 'हिमालय' 'ताण्डव' आदि कतिपय कविताओं में काफी उष्णता आई हुई जान पड़ती है।

इधर बच्चन जी का स्वर बहुत बदला है। उनके काव्य में प्रगतिशीलता का रंग काफी गाढ़ा होता जा रहा है। वे दार्शनिक प्रकृति के रचनात्मक-प्रतिभाशाली श्रेष्ठ कवि हैं, किसी भी दिशा में अपने को मोड़ कर वह पूरी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उनके कुछ प्रगतिशील गीत—

"प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर"

या—

"यह महान दृश्य है,

चल रहा मनुष्य है—

अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ"

आदि महान हैं। मधुशाला के कवि का यह विकास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री अज्ञेय, अञ्चलनरेन्द्र, माचवे, केदार, रामदयाल पाण्डेय, सुमन आदि भी इसी धारा के कवि हैं। इनका भविष्य अत्युज्ज्वल प्रतीत होता है।

किन्तु श्री सुमित्रानन्दन पन्त, जैसा कि शिवदान सिंह चौहान ने 'हंस' के एक लेख में लिखा था, ही इस समय इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारतेन्दु की आरम्भ की हुई खुरदुरी 'भारत दुर्दशा' 'ग्राम्या' में जैसे काव्योचित परिणति प्राप्त कर गई है। वीणा और ग्रन्थि से पल्लव तक की काव्यात्मक सौन्दर्य्य-सृष्टि 'परिवर्त्तन' से मोड़ लेती, गुञ्जन में कल्याण-भावना का सन्धान करती, युगान्त में युगान्तर की सूचना देती, 'युगवाणी' में नए क्रान्तिकारी विचारों, आदर्शों को अपनाती हुई ग्राम्या में

प्रौढ़ता प्राप्त कर लेती है। ठोस भूमि पर उतर कर भी ग्राम्या में काव्य की जो स्वर्गीय छवि-छटा है, सौहार्द का संवेदना-द्रवित स्वर है, वह संकीर्ण भौतिकतावादियों की चिनगारियों-सी चकमक करती पंक्तियों में दुर्लभ है।* यह पन्त जी के लिए सौभाग्य का विषय है कि रोमैंटिक कविताओं की तरह प्रगतिशील कविताओं के भी आज वे अन्यतम प्रतिनिधि कवि हैं।

एक ओर इलाचन्द्र जोशी प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया सिद्ध करने में मनोवैज्ञानिक तर्कों को प्रस्तुत कर रहे हैं, और दूसरी ओर 'एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए' के विप्लववादी कवि नवीन जी 'कला को सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक जागृति का शस्त्रमात्र बनाने' से हिचकिचा रहे हैं। पर पता नहीं, नवीन जी को 'शस्त्रवाहक' बनने के लिए प्रगतिवाद ने कब विवश किया! साथ ही—

"दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को,
धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई
रसातल से उभरती आ रही है आग कोई"

जैसी क्रान्तिकारिणी पंक्तियाँ लिखनेवाले दिनकर जी जब यह कटु सत्य स्वयं स्वीकार कर चुके हैं कि 'केवल भाड़े पर लिखी हुई चीजें, रोटी का राग और साम्यवाद के गीत बिलकुल असत्य हैं, क्योंकि उनमें अनुभूति का दाह नहीं है, क्योंकि वे समय की फरमाइश पर नाचने को आई हैं', तब अपनी ओर से उनके सिर इस ऐसी प्रगतिशीलता का सेहरा बाँधना नाजायज मालूम पड़ता है। और, तब पन्त जी के अतिरिक्त दूसरा कोई

---

* आज सत्य, शिव, सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ' संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।

* * *

नव युग की स्वर्णिम किरणों से होगी भू आलोकित,
नव संस्कृति के नव प्ररोह होंगे शोणित से सिञ्चित।

ऐसा नजर नहीं आता जो प्रगतिवाद की सुदृढ़ भावभूमि के उनसे सुन्दर काव्यात्मक चित्र आँक सके। इतना ही क्यों, वे जिस धारा का नेतृत्व कर रहे हैं, उसमें बहने वाले अन्य कवियों में भी एक ऐसी दृढ़ता है, ऐसी निष्ठा है जिस पर बरबस विश्वास करना ही चाहिए:—

क्या हार में, क्या जीत में,
किञ्चित् नहीं भयभीत मैं
संघर्ष-पथ पर जो मिले, यह भी सही, वह भी सही !'

दिसम्बर, ४१



—* फुल्ल रक्त शतदल पर शोभित
युग लक्ष्मी लोकोज्ज्वल
अयुत करों से लुटा रही
जनहित, जनबल, जन मङ्गल !

× × ×

अन्धकार की अतल गुहा-सी
अह, उन आँखों से डरता मन,
वर्ग-सभ्यता के मन्दिर के
निचले तल की ये वातायन !

× × ×

पशुओं-सी भीत मूक चितवन, प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन,
तृण तरुओं से उग बढ़, झर गिर, ये ढोते जीवन क्रम के क्षण !
कुल मान न करना इन्हें वहन, चेतना ज्ञान से नहीं गहन,
जग जीवन धारा में बहते ये मूक, पंगु बालू के कण !
इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज,
मानव प्रति मानव की विरक्ति उपजाती मन में क्षोभ-खीझ !

मीरा और महादेवी

१

स्विटजरलैंड या काश्मीर की उपमा समझदार लोग स्वर्ग-लोक से देते हैं। यह उनकी सुरुचि का ही परिचायक है।

प्राच्य संस्कार के अनुसार सौन्दर्य की अमर-भूमि अमरावती है।† मानव हृदय की अतृप्त-अपूर्ण, इच्छाऽऽकाङ्क्षाओं; वासना-स्वप्निल पलकों में प्रतिविम्बित, बहुतेरी धुंधली-रंगीन रेखाओं से निर्मित चित्र का नाम स्वर्ग है।*

फिर जिस काश्मीर की छवि-छटा देख कर हृदय में आनन्द की लहरें लहराने लगती है; आँखें जुड़ा जाती है; प्राण-प्रदेश में एक अपरिचित सुर की बाँसुरी बज उठती है; वहाँ की रन्ध्रहीन परिपूर्णता मे, सहज शोभा-सुषमाओं में अपने को घुलामिला देने, खो देने की बेकली बढ़ जाती है, उसे स्वर्ग न कह कर और क्या कहना उचित होगा?

स्वर्गः अर्थात् अशान्त, बहु-वासनाक्रान्त मानव हृदय की शाश्वत शान्ति एवं चिरतृप्ति की अमिट पिपासा; विकल लालसा। इसलिए काश्मीर को स्वर्ग कह कर जैसे हृदय की उच्चता का सब कुछ अर्पित कर दिया गया।

---

† मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य संभवः
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।
—'कालिदास'

* द्यौर्न काचिदथवाऽस्ति निरूढ़ा
सैव सा चलति यत्र हि चित्तम्।
—श्रीहर्ष

कालिदास ने मेघदूत में विशालापुरी का विशाल वर्णन एक ही पंक्ति मे किया है—

"शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः, कान्तिमत्खण्डमेकम्" लिख कर। कहा है,—विशालापुरी क्या है? स्वर्ग का एक सुन्दर टुकड़ा, जिसे वहाँ के निवासी ('क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के नियमानुसार) स्वर्ग से अंतिम विदा के समय, अपने बचे-खुचे पुण्यों के बल से जैसे, पृथ्वी पर ले आए है।

बस, स्वर्ग कहने के बाद और कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई।

ठीक उसी प्रकार, महादेवी की उच्च साधना का परिचय भी एक ही शब्द में दिया जा सकता है—उन्हें मीरा कहकर।

स्वर्ग से जितना कुछ सादृश्य स्विटजरलैंड या कश्मीर का हो सकता है, उससे तनिक भी कम महादेवी का मीरा से नहीं हो सकता। हाँ, यह दूसरी बात है कि स्विटजरलैंड या कश्मीर स्वर्ग नहीं, और इस दृष्टि से महादेवी भी मीरा नहीं है।

'स्वर्ग और स्विटजरलैंड' की तरह 'मीरा और महादेवी' में केवल अनुप्रास का सादृश्य नहीं है, यद्यपि वह (सादृश्य) काव्यात्मक के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का नहीं और अनुप्रास (अलङ्कार) भी काव्य का ही एक अंग है।

मीरा 'भक्ति-युग' की कृष्ण-प्रागा भक्त थीं, और महादेवी इस युग की उच्चकोटि की कलाकार। अत्यन्त साम्य ढूँढने वालो को इस प्रकार के राशि-राशि वैधर्म्य प्राप्त हो सकते हैं। निश्चय ही उपमान और उपमेय की भाँति यह दोनों दो है भी, किन्तु जैसे, जब किसी के मधुर मुखड़े को चाँद कहा जाता है तो यह समझ कर नहीं कि वह भी चाँद ही की तरह आसमान में अटका हुआ रहता, अथवा चक्कर काटता फिरता है, या उसे भी चाँद ही की तरह क्रमशः कृष्ण और शुक्ल पक्ष मे घटने-बढ़ते रहना

चाहिए—मैं भी यहाँ उसी नियम का आश्रय ग्रहण कर रहा हूं।

मैं कहता हूँ, दोनों दो हैं, किन्तु विलग नहीं हैं; दोनों की अश्रु-धार ने 'द्वैतभाव' की काई को धो-पोंछ कर साफ कर दिया है। और इसीलिए 'मीरा' के साथ ही 'महादेवी' का नाम अब अनायास आ जाता है।

२

मुसलमानी सल्तनत के समय हिन्दू जनता अपनी संस्कृति और धर्म को मटियामेट होते देख चीख रही थी; कराह रही थी। वह अपने उद्धार के लिए किसी भी दयालु धर्मात्मा के आगे घुटने टेक सकती थी। विदेशी क्रूर भावनाओं ने उसके हृदय के अत्यन्त ऋजु 'विश्व-बन्धुत्व' को कुचल दिया था; उसे निष्ठुर बनने के लिए विवश कर दिया था। वह खूनी तलवार में, मरने से पहले ब्रह्म का स्वप्न भी नहीं देख सकती थी। वैसी आर्त्त-कातर दशा में न तो उसे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' सूझता था और न 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्'। उसे उस समय केवल किसी कृपालु के चरणों की शरण की आवश्यकता प्रतीत होती थी; वह उसी के लिए विकल-बेकल थी।

कोई कैसा भी नामवर डाक्टर क्यों न हो, स्वयं बीमार पड़ने पर प्राणरक्षा के लिए औरों से कहने में तौहीन 'फील' करता हुआ प्राण नहीं गँवा देता, फिर हिन्दू तो मर्यादापुरुषोत्तम राम और गोवर्धनधारी कृष्ण की शरण में गए थे; आर्त्तभक्ति करने लगे थे, किसी कठमुल्ले या ढोंगी पुरोहित की नहीं!

सताए हुए आदमी को सर्वप्रथम किसी सामने खड़े, शक्तिशाली व्यक्ति की बलिष्ठ बाँहों की छाँह चाहिए; निरापद स्नेह प्राप्त होना चाहिए, किसी अदृश्य, अस्पृश्य (चाहे वह सर्वशक्तिशाली ही क्यों न हो) का रूखा-सूखा ज्ञानमात्र नहीं। ब्रह्म की निराकारता को, सर चढ़ कर बोलने वाले श्यामसुन्दर के जादू के द्वारा खुली चुनौती दी जा चुकी थी। उद्धव निराकार भावना का प्रतीक बन कर मोहन की प्रेमिका गोपिकाओं द्वारा बुरी

तरह बनाए गए थे। उस काल के प्रतिनिधि साहित्य ने अपना दृष्टिकोण सुस्पष्ट कर दिया था—उद्धव को धता बताते हुए मुरली-मनोहर को अपना कर; कोरे ज्ञान को कोसते हुए निष्ठुर प्रेम को कलेजे से लगा कर।

इस भावना के प्रचार-प्रसार मे पूर्वोक्त मनोवैज्ञानिक कारण ही प्रधान था। भक्तोद्धारसमर्थ भगवान् की प्रेमी मूर्ति सताए हृदयों में घर कर गई।

सूर-तुलसी आदि के उसी भक्ति-प्रेम के पावन वातावरण में दुःखिनी मीरा, उपेक्षिता राधा की भाँति अपने निष्ठुर प्रेमी-प्रियतम को कुंज-वन-वीथियों मे ढूँढती हुई प्रकट हुई।

तन-मन-जीवन,—सम्पूर्ण सर्वस्व को श्रीकृष्णचन्द्र के 'त्रिविध-ज्वाला-हरण' चरणों पर न्योछावर कर वह प्रेमयोगिनी वियोगिनी की भाँति गाती फिरी -

"एरी मैं तो दरद-दिवानी
मेरो दरद न जाने कोय !"

—इस प्रकार मीरा का उत्सर्ग किया हुआ जीवन ही साहित्य-संगीत-कला बन गया है, जब कि महादेवी ने कला ही को अपना जीवन बनाने की भरपूर चेष्टा की है।

विज्ञान के इस जड़ युग मे, प्राच्य सभ्यता-संस्कृति की इस सर्वनाश-वेला में, विदेशी शिक्षा-दीक्षा ओ कला की बहुवर्ण विकसित अभिनव रूप-रेखाओं; भगवान् बुद्ध एव सूफी संतो की फिलासफी, शेली, रवीन्द्रनाथ—सबको हृदयंगम कर

"सरसर से कहो जल्द चिराग आके बुझा दे,
तुरबत प कई पर्दानशी आए हुए है।"

के तर्ज पर—

"करुणामय को भाता है तम के पर्दे मे आना,
ओ नभ की दीपावलियो ! तुम छन भर को बुझ जाना।"

या 'पन्त' जी के --

"तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन !"

के स्वर में स्वर मिलाकर—

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग, प्रति दिन, प्रति क्षण, प्रति पल
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु जल-जल !"

—गानेवाली, नई हिन्दी में 'आँसू' के मन्द-गति छन्द पर दुःखवाद की सफल रचनाओं को † लोकप्रिय बनानेवाली, छायावादी कवयित्री, श्रीमती*

---

* रो-रो कर, सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण-कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी !
निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला !
—प्रसाद

† नभ के धुँधले कर डाले
अपलक चमकीले तारे,

महादेवी, मीरा नहीं हो सकतीं,—यह ठीक है; किन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि इस युग के अनुरूप, यदि मीरा के केवल कवि-रूप की कल्पना की जाय, तो वह निःसन्देह महादेवी ही का कवि रूप होगा; सुभद्रा-तारा का नहीं, पन्त और प्रसाद का भी नहीं, जिनकी छाया के अनुहरण से वह छायावादी कहलाईं। केवल कवि-रूप की कल्पना इसलिए कि मीरा के निजी व्यक्तित्व से महादेवी की तुलना करना अत्युक्ति नहीं, प्रलाप होगा। हाँ, महादेवी की काव्य-वेदना मीरा की सम-वेदना प्राप्त करने की सर्वथा अधिकारिणी है।

इस तरह मैं देखता हूँ कि तुलना व्यक्तित्व के साथ व्यक्तित्व की नहीं, काव्य-वेदना के साथ व्यक्ति की वेदना की है। दूसरे शब्दों मे,-महादेवी की काव्यवेदना से मूर्तिमती वेदना मीरा की तुलना करनी होगी। इसी व्यतिक्रम के कारण कुछ कट्टरतावादी (Orthodox) मीरा और महादेवी को पास-पास देखना ही नहीं चाहते, क्योंकि वह बलपूर्वक महादेवी के समग्र जीवन को, उनके काव्यावेश के उदास अवसर मात्र को नहीं, मीरा की तरह देखने की दुरभिलाषा रखते है।

और दूसरी ओर महादेवी की साधना के साक्षी, कुछ 'निष्पक्ष' आलोचकों का मीरा से भी बढ़कर महादेवी पर पक्षपात है। किन्तु मै कहता हूँ, कलाकार की जीवन-गति की विचित्रता के, अ-सवसाधारणता की 'सचाई' के वे सच्चे समझदार नहीं है। नहीं तो लौकिकता मे सावधान

—इन आहों पर तेरा कर
रजनीकर पार उतारे!
चिर ध्येय यहीं जलने का
ठंढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिरसुख हो जाना!

— महादेवी

महादेवी के कलापूर्ण जीवन से, पगली मीरा के बेसुधपन की 'अकल' अलौकिकता उनके आगे आप आलोकित हो उठती।

इसीलिए मैं मीरा और चण्डीदास से बहुत अधिक साहित्य सर्जन करनेवाले कवीन्द्र रवीन्द्र को भी मीरा या चण्डीदास कहने का दुःसाहस नहीं करता। मेरे विचार से चण्डीदास या मीरा का 'सत्य' रवीन्द्रनाथ की किसी भी 'सुन्दर' या 'शिव' कल्पना में नहीं। अवश्य काव्य-कला की कसौटी पर चण्डीदास को हल्का करार देना रवीन्द्रनाथ के जौहरी का इनाम पाने लायक काम होगा। अस्तु,

मीरा के काव्य के मुकाबले महादेवी महीयसी हैं। महादेवी के प्रत्येक पद में काव्य कला खेल रही है, जब कि मीरा के पद कला से खेलते, दिल्लगी करते नजर आते हैं। इसका कारण यही है कि मीरा ने काव्यकला की क्रमिक शिक्षा नहीं पाई थी; कला-प्रदर्शन के लिए गीत नहीं गाए थे। प्रेम के भावावेश में जो कोयल की तरह कूक गई तो उसमें प्रकृति-प्रदत्त पञ्चम सुर अपने आप आ गया। पर महादेवी का सधा हुआ स्वर कला के विशेषज्ञों के लिए और भी अधिक आकर्षक है, क्योंकि उसमें केवल कोयल का पंचम ही नहीं, षड्ज से निषाद तक सातों सुरों का यथाक्रम आरोह-अवरोह वर्तमान है। उनके काव्य को, केवल मीरा के नयनों में बसने-वाले नन्दलाल की 'सांवली सूरत, मोहिनी मूरत' का बल या संबल प्राप्त नहीं है; वहाँ आध्यात्मिक प्रियतम (परमात्मा का सर्वाकार या निराकार रूप) मात्र भी नहीं; किन्तु उसमें विविध साहित्य की राशि-राशि भाव-भंगियाँ (Expressions), अन्यान्य महाकवियों के प्रतिस्पर्द्धी शिल्प; रूप-रस-रंग का निर्माण; प्राच्य-प्रतीच्य की विकसित विभिन्न काव्य-कलाओं के भीतर से अपने महान् व्यक्तित्व की मौलिक रचना, आदि अनेक दर्शनीय तत्त्व है।

फिर भी, उस 'दरद-दिवानी' के लिए महाकवि पन्त की वाणी में यही कहना उचित होगा कि—

"बिन्दु में थी वह सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसंत !"

या

A world in a grain of sand,
And a heaven in a wild flower,
Infinity in the plam of a hand,
Any eternity in an hour.

३

महादेवी के स्वर में, यत्र-तत्र जो एक स्वर्गीय झङ्कार है, सादर स्वीकृत दुःख में जो आध्यात्मिक वेदना का आभास है, वही उन्हें मीरा तक पहुँचा देता है।

और मीरा के काव्य में प्रियतम से बिछुड़ी हुई एक ग्राम्यवधू का जो स्वाभाविक उच्छ्‌वास है, मनोवेदना या कुछ सहज उपमा-रूपकों की भाषा में द्रवित प्रणय-निवेदन है उसे ही महादेवी की उत्कृष्ट काव्य-कला के समान माना जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, लौकिक महादेवी का आध्यात्मिक आरोह (चढाव) और अलौकिक, आध्यात्मिक मीरा का (विरहिणी प्रेयसी जैसा मुग्ध आर्द्र प्रेम-विरह) पार्थिव स्तर पर अवरोह (उतार); महादेवी की दार्शनिक सतर्कता, संयम, और मीरा का मधुर प्रणयोन्माद; आश्रम की मृगी की भाँति सार्वत्रिक संशय-हीनता, वन्य-निर्झर की भाँति अमन्द स्वच्छन्द प्रवाह;—यही समान सन्तुलन का विषय है।

जब मैं महादेवी की रचनाएँ पढता हूँ तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि इस मिट्टी की दुनिया से दूर—बहुत ऊपर उड़कर, (Like a poet hidden in the light of thought, singing hymns unbidden) कोई विहग-बालिका अस्पष्ट स्वरों में कुछ गा रही है; धीरे-धीरे वह अपने स्वर-संगीत में इस प्रकार छिपती जा रही है कि मैं

उसे प्रयत्न करने पर भी आँखों से नहीं देख सकता !

पर जब मै मीरा के पदों में लीन होता हूँ तो मुझे ऐसा विदित होता है कि स्वर्ग की एक तरुण-करुण देवी, (वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षाम-मुखी धृतैकवेणिः) अपने प्रियतम के पदचिन्हों के पीछे-पीछे चलती हुई इस गोधूलि-लोक में उतर आई है; उसके निठुर प्रियतम के पावन पद-चिह्न यहाँ की धूमिलता में तिरोहित हो गए हैं; और वह उसी की खोज में दर-दर भटक रही है; लोग पगली समझ कर उसे घेरे चलते हैं, कुछ निष्कलुष आत्माएँ 'अकारण' ही अश्रु-स्नात हो उठी हैं (अश्रु अकारणे करे विसर्जन बालिका): मैं उन्हीं के पास-पास हूँ।

इसी 'चढाव-उतार' के बीच का जो एक कल्पित स्थान हो सकता है, वहीं मैं दोनों को बहुत कुछ समान मानता हूँ। वहीं महादेवी कहती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा, कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग;
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग-भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार !
हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता होंठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिरसञ्चित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व वार !

वहीं मीरा गाती है—

"कोई कहियो रे पिय आवन की

आवन की, मनभावन की।
ये दोउ नैन कहो नहीं माने
नदियाँ बहें जैसे सावन की !
कहा करौं कछु बस नहि मेरो
पांख नहीं उड़ जावन को !"

वहीं महादेवी कूकती है—

"पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !"

वहीं मीरा बिलखती है—

"सखी, मेरी नींद नसानी हो !
पिय को पथ निहारत सिगरी
रैन बिहानी हो !"

वहीं महादेवी विचारती है—

"तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या"

वहीं मीरा मुसकाती है—

"तुम बिच, हम बिच अन्तर नाहीं
जैसे सूरज-घामा,
पल-पल तेरा रूप निहारूँ,
निरख-निरख सुख पाती !"

वहीं से महादेवी सोचती है—

"मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि, क्या प्रिय आने वाले है"

वहीं से मीरा सुख-संतोष की साँस लेती है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज,
चढ़ि-चढ़ि महल जोऊँ मेरी सजनी, कब आवै महराज।"

वहीं महादेवी अनुभव करती हैं—

"क्या पूजा क्या अर्चन रे !

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !"

वहीं मीरा थिरकती है—

"जहँ-जहँ पाँव धरूँ धरनी पर तहँ-तहँ निरत करूँ री !"

अथवा—

"बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झनकार रे
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै, रोम रोम रँग सार रे
उड़त गुलाल लाल भये बादर बरसत रंग अपार रे !"

उसी मिलन-पद से महादेवी का गीत शुरू होता है—

"प्रिय चिरन्तन है सजनि, छन-छन नवीन सुहागिनी मैं"

और वहीं बेसुध मीरा गुनगुनाती है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई;
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई !"

पर जहाँ महादेवी केवल कलाकार हैं, वहाँ मीरा हृदय पर हाथ रखे, उनके कल्पना-मन्दिर के द्वार पर चुपचाप खड़ी है। हाँ, कभी-कभी होठों के बीच तर्जनी उँगली जरूर सीधी कर लेती है। पर कलाबाजी में क्या कम बेसुधपन रहता है ?—महादेवी को द्वार की ओर दृष्टि डालने की सुध ही नहीं आती, वह खूब डूब कर सोचती रहती है—

"बन गया नभ-सिन्धु का आलोक सतरंगा पुलिन सा,
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत का मलिन सा !"

\+ \+ \+ \+

"मेघ-रूँधा अजिर गीला टूटता सा इंदु-कंदुक,
रवि झुलसता लाल पीला यह खिलौने और यह उर,
प्रिय नई असमानता है !"

उनकी ध्यानावस्था में तनिक भी भेद न देख धीरे से मीरा छेड़ती है—विदुषी सखी, आँख मूँद कर तुमने यह सब क्या-क्या लिख डाला ?

और महादेवी ससंभ्रम आँचल के छोर से ललाट पर झलमलाते

स्वेद-विन्दुओं को पोंछते-पोंछते हँस पड़ती हैं—"कुछ भी नहीं देवि, मुझे तो इसका एकदम ही पता नहीं रहता कि मैं कब क्या लिखती हूँ—

"मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !"

तब मीरा उन्हें कुछ गाने के लिए कहती है, पगली की तरह हठ ठानती हुई; और महादेवी सकुचाती-सकुचाती सुन्दर स्वर से आलापती हैं—

"शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी"
अर्चना हों शूल भोले,
क्षार दृग-जल अर्घ्य होले,
आज करुणा-स्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी !
नूपुरों का मूक छूना,
स-रव कर दे विश्व सूना,
यह अगम आकाश उतरे कम्पनों का हो भिखारी !
लोल तारक भी अचञ्चल,
चल न मेरा एक कुन्तल,
अचल रोमों में समाई मुग्ध हो गति आज सारी !
राग मद की दूर लाली,
साध भी उसमें न पाली,
शून्य चितवन में बनेगी मूक हो गाथा तुम्हारी !

मीरा मुग्ध हो जाती है, इस 'प्रतिमा' पर सौ-सौ जानों से न्योछावर। 'कुछ और, कुछ और' बच्ची की तरह मचलती है। महादेवी गाने लगती हैं-

"विरह की घड़ियाँ हुईं अब मधुर मधु की यामिनी सी"

× × × ×

"प्रिय जिसने दुख पाला हो !

"वर दो, यह मेरा आँसू उसके उर की माला हो !"

× × × ×

"तुम दुख बन इस पथ से आना
शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह, जिसने
सीखा न हृदय को बिँधवाना !"

अब बारी आई मीरा की। महादेवी ने 'एकान्त-संगीत' के एक पद द्वारा, प्यार से, भक्ति से, जैसे आग्रह किया–'**मूल्य दे सुख के क्षणों का !**' *मीरा ने कहा–"अरी तुम बावली तो नहीं हो गई ? अपने मनमोहन गान की गुलाबी खुशबू फैला कर अब क्या सचमुच ही मेरे अप्रीतिकर ग्रामगीतों के काँटे कानों और प्राणों में चुभोना चाह रही हो ?' कहा सही, पर मीरा किसी के प्रेमाग्रह को सहज ही टाल देने वाली न थी, उसने चलते-चलते गा दिया –*

"ऐसो पियै जान न दीजै हो,
चलो री सखी, मिलि राखि कै नैना रस पीजे हो।
श्याम सलोनो सांवरो मुख देखे जीजै हो,
जोइ जोइ भेस सों हरि मिलै, सोइ सोइ कीजै हो।
मीरा के गिरिधर प्रभू बड़ भागन रीझै हो ॥"

मीरा चली गई। उसका अन्तिम पद बाँसुरी के स्वर की तरह सुदूर प्रान्त तक गूँजता हुआ मालूम पड़ता था। महादेवी उदास, कल्पना-मन्दिर में सावधान होकर फिर लेखनी चलाने लगीं—

"बादलों की प्यालियाँ भर
चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु
तुमने रँगा उर प्यार से !"

४

ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ महादेवी निरी बौद्धिक हैं। काव्य की रसाल-डाल में झूला डाल कर उनकी कल्पनाएँ पैंगे भरती दीख पड़ती हैं और वह सावनी समा देखने में मस्त। वहाँ 'अध्यात्म' की कल्पना करना निठल्लूपन होगा। यों तो हिन्दी में जैसी, लेखकों की बाढ़ उमड़ी हुई है, ऐसे दार्शनिक आलोचकों की भी कमी नहीं, जिन्हें निराला जी की 'होली' के ठेठ शृङ्गार में (**प्रिय कर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गई चोली**) दर्शन के गूढ़ रहस्य (आवरण-भङ्ग) का भान होता है। साथ ही जिन्हें—

"दूर गाँव की कोई वामा
आए मन्द चरण अभिरामा
उतरे जल में अवसन श्यामा
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो !"

की निरावरण सुषमा को अश्लील कह कर निरालाजी की ओर वक्र भृकुटि तानने की तकलीफ उठानी पड़ती है। मगर मालूम नहीं, वह मीरा के—

"पँचरँग चोला पहन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती,
ओहि झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, खोल मिली तन गाती।"

या जयदेव के—

"विगलितवसनं परिहृतरशनं
घटय जघनमपिधानम्।"

को क्या समझते हैं ?

कण-कण में 'उसका' चेतन स्पर्श होने के कारण, जड़ प्रकृति में भी 'उसका' प्राणमय परस पाना; 'उसके' अस्तित्व के आभास का अनुभव करना, छायावादी युग की एक प्रमुख भावना-धारा रही है। महादेवी में ऐसे चित्रों की बहुलता है सही, पर उन्हें मैं अत्यन्त अद्भुत या अलौकिक नहीं मानता। इसी तरह उनके उद्गारों में भी जब मैं पढ़ता हूँ —

"मैंने देखा उसे नहीं,
पद-ध्वनि है केवल पहचानी !"

तो मुझे तत्क्षण रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

"I have not seen his face, nor I have listened to his voice, only I have heard his gentle footsteps from (? on) the road before my house."

और तब यह प्रश्न स्वाभाविकतया ही उठ खड़ा होता है कि क्या महादेवी को स्वयं भी इसकी अनुभूति हुई है या उन्होंने केवल उपरिलिखित भावना कि आनुपूर्विक आवृत्ति द्वारा अपने काव्य के छायावादी औचित्य की रक्षा ही की है !

पन्त जी की कुछेक पुनः-पुनः प्रशंसित पंक्तियों के सम्बन्ध में भी मेरा ऐसा ही अनुदार विचार है। जैसे एक भावना—

"दूर—उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छायावन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार,
वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ उड़कर पास"

यह क्या—

"The sleep that flits on baby's eyes—does anybody know from where it comes ? Yes, there is a rumour that it has its dwelling where, in the fairy village among shadows of the forest dimly lit with glow-worm, there hang too timid buds of enchantment,

from there it comes to kiss baby's eyes."—

शब्द या भाव की सदृशता, मौलिकता, अमौलिकता आदि पर यहाँ मुझे कुछ भी लिखना नहीं है। क्योंकि महादेवी के ऐसे अनेक भाव है, जिनकी मौलिकता पर सहज ही संशय किया जा सकता है। सूर आदि भक्ति-युग के कवियो के साथ तुलना करने पर मीरा मे भी यही बात हो सकती है। किन्तु मै विश्वास करता हूँ, जिसमे जितना 'सत्य' होता है, वह उतना 'दीर्घायु' होता है। कारण, संसार मे व्यक्ति नहीं अमर होता, 'सत्य' अमर रहता है।

और, विचार-सदृशता को तो ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त है कि किसी युग-विशेष की चिन्ता-धारा, इसी प्रकार, नाना-आश्रयो, विभिन्न उद्गमस्रोतो के बीच से बहुमुखी होकर बहती ही है,— "Like many a voice of one delight"

५

महादेवी 'अरूप' की आराधिका है, मीरा 'रूप' की राधिका।

महादेवी कलाकार है, मीरा तदाकार।

मीरा का काव्य निश्छल प्यार का सजल, सुमधुर उद्गार है: महादेवी के गान विरस-अरूप अध्यात्म-दर्शन के सरस सुन्दर चित्र हैं।

महादेवी ने 'सुन्दर' को 'सत्य'-रूप मे चित्रित किया है, पर मीरा में 'सत्य' स्वयं 'सुन्दर' हो गया है।

महादेवी मे शिल्प-निपुणता है; मीरा के पारदर्शी प्राणों में सहज सुकुमारपन।

महादेवी जैसे झुलसी हुई विश्व-वाटिका को अपने आँसुओ से सींचना चाहती है, पर मीरा केवल 'प्रेम-लता' को लहलही रखने के लिए ही रोती है। सब मिलाकर, महादेवी में गौरव का एक स्थिर, गम्भीर भाव है; और सिर से पैर तक मीरा सरल है, तरल है।

मीरा ने अनुभव किया था, देखा था, स्पर्श किया था। महादेवी

ने अध्ययन, मनन, चिन्तन किया है।

मीरा 'कुछ हो गयी थी,' महादेवी आत्मनिर्माण कर रही हैं।

मीरा प्राणों में गा उठती है; महादेवी हृदय के तारों को छूकर झंकृत कर देती है।

महादेवी जैसे एक 'प्रश्न' है, प्रश्न और उत्तर से परे मीरा।

दोनों का पथ आध्यात्मिक, फलतः पवित्र है। सत्य और सुन्दर के साथ साथ कला को मंगलमय बनानेवाली यही पवित्रता है, जिसका अधिकांश उच्चकोटि के साहित्यिकों में भी अभाव रहता है।

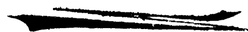
दोनों में अनन्त-विरह की व्यापक प्रधानता है; ईश्वर-विषयक वेदना की प्रमुखता। (**तोमाय आमि पाइनि येन से कथा रय मने; येन भुले न याइ, वेदना पाइ, शयने स्वपने।**) दोनों ही का लक्ष्य, जो आध्यात्मिक कलाकार का लक्ष्य हो सकता है,—ईश्वर की अनुभूति है: प्रिय की प्राप्ति है।

अरूप की आराधना महादेवी ने युग से प्रभावित होकर की, या मीरा के समान ही मानस के सहज उच्च स्तर से,—यह उनके गीतों की गङ्गा में गोते लगाने पर प्रत्येक मननशील सहृदय स्वयं समझ लेगा।

हाँ, अपनी उन्मुक्त भाषा में मैं इतनाही कहता हूँ कि महादेवी की अरूप आराधना मीरा का सत्य-रूप ग्रहण कर ही पूर्ण परिणत हो सकती है।

भक्ति-युग के भक्त-सप्तर्षियों के बीच जैसे मीरा अरुन्धती तारिका का स्थान सुशोभित कर रही है, ठीक उसी प्रकार दार्शनिक काव्य के छायावादी युग में, निराला, प्रसाद और पन्त के साथ महादेवी महीयसी हैं।

सितम्बर '३६



मुद्राराक्षस और जूलियस सिजर

१

शेक्सपियर के जूलियस सिजर नाटक के साथ विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक की तुलनात्मक समीक्षा करने का भाव मन में अनेकशः अनायास ही उत्पन्न होता है। मुझे इसमें कृत्रिमता भी नहीं मालूम पड़ती। दोनों नाटकों का बाह्य सादृश्य और आन्तरिक असादृश्य ही तुलनात्मक अध्ययन का रोचक विषय है।

आरम्भ में ब्रूटस के साथ कैसियस का राजनैतिक व्यवहार प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा अन्त तक राक्षस के साथ चाणक्य का। ब्रूटस और राक्षस के चरित्र बहुत कुछ मिलते जुलते हैं, चाणक्य और कैसियस कि कूटनीति में भी बहुत समानता है। इसके अतिरिक्त बाहर-भीतर की अनेक ऐसी घटनाएँ है, जिनमें सादृश्य ही सादृश्य है। और यह तो एक मोटी सी बात है कि दोनों राजनैतिक नाटक है, दोनों ही की पार्श्व-भूमि ऐतिहासिक है। एक में 'सिजरिज्म' पर तथा दूसरे में नन्दवंश पर पूर्णविजय प्राप्त करने की विद्रोह पूर्ण चेष्टाएँ ही दोनों के वर्ण्य विषय हैं।

इस प्रकार अधिक से अधिक समानता रहने पर भी दोनो के रसास्वाद में बहुत अन्तर है, जिसकी गभीर अनुभूति स्वयं की जा सकती है। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि सुखान्त-दुःखान्त के गोलमटोल भेद के कारण ही दोनों के रसास्वाद में भिन्नता आ गई है। हालाँकि सुखान्त-दुःखान्त का भेद ऐसा-वैसा भेद नहीं है, और सच तो यह कि इसी स्थूलता मे बहुत सी बारीकियाँ छिपी हुई हैं। अस्तु। दोनों की विषम समानता की ओर एक सूक्ष्म सङ्केत करने के लिए पहले मैं बाह्य सादृश्यों ही से प्रारम्भ करूँगा।

२

कुछ 'कॉमनर्स' के प्रवेश के साथ 'जूलियस-सिजर' का आरम्भ होता है, सूत्रधार और नटी के प्रवेश के साथ 'मुद्राराक्षस' का। प्रासङ्गिक वार्त्तालाप से सुस्पष्ट हो जाता है कि 'कॉमनर्स' उत्सव (सिजर की विजय यात्रा) में सम्मिलित होने के लिए बाहर निकले हैं। इधर नटी भी उत्सव (चन्द्र ग्रहण के अवसर पर भोज) की तैयारियों में लगी हुई है। सूत्रधार समझता है कि—"उत्सव करो; पर सचमुच चन्द्रग्रहण का योग नहीं है।" बस इतने ही में 'चन्द्रग्रहण' का नाम सुन कर, और उसका अर्थ 'चन्द्रगुप्त का पकड़ा जाना' समझ कर चाणक्य आपे से बाहर होता हुआ बाहर आ जाता है—'आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलात्?'—मेरे रहते किसकी हिम्मत है कि चन्द्रगुप्त का बाल भी बाँका कर सके? ऐसी ही बात उधर होती है। फ्लेवियस और मेरुलस नामक दो व्यक्ति आते हैं, पूछने पर कॉमनर्स में से एक उन्हें बतलाता है कि हम सब विजय-यात्रा में सिजर को देखने निकले हैं (Sir, we make holiday, to see Caesar and to rejoice in his triumph)। फिर क्या था? सिजर का नाम सुनते ही वह फट पड़ते हैं, सर पर आसमान उठा लेते हैं।

दोनों नाटकों के इन आरम्भिक दृश्यों में कैसा सुन्दर सादृश्य है!

मुद्राराक्षस के प्रथम अङ्क मे, राक्षस के परिवार के बारे में, चाणक्य और चन्दनदास कुछ बातचीत कर रहे हैं। जूलियस सिजर के प्रथम अङ्क में भी ब्रूटस और कैसियस म उसी प्रकार राजनैतिक वार्त्तालाप चल रहा है। इतने में शोरगुल शुरू होता है। ब्रूटस पूछता है—Whet means this shouting? I do fear the people chose Caesar for their king,—यह कैसा हो-हल्ला? मुझे भय है कि रोम की जनता सिजर को कहीं अपना बादशाह तो नहीं बना रही? बस, इसने ही से कैसियस अपना (ब्रूटस को अपने दल

में मिला लेने का) काम बना लेता है। वह ब्रूटस के इस सरल उद्गार का अनुचित लाभ उठाने के लिए मन ही मन सोचने लगता है-

Well, Brutus, thou art noble; yet, I see,

Thy honourable metal may be wrought

from that it is disposed: ब्रूटस! तुम अच्छे हो सही, पर देखता हूँ कि तुम्हारी आदरणीय सत्व प्रकृति पर पर्दा डालने में मैं सफल हो सकूँगा!

उधर मुद्राराक्षस में भी ऐन बातचीत के मौके पर शोरगुल शुरू हो जाता है, चाणक्य इसका सबब चन्दनदास को समझाता है, पर चन्दनदास अपने पूर्व वाक्य पर सदृढ़ रह कर चुपचाप कैद हो जाता है। बस चाणक्य भी कैसियस ही की भाँति मारे खुशी के बड़बड़ाने लगता है--अब क्या? अबतो राक्षस मेरी मुट्ठी में आ गया!

'हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः।

इन घटनाओं में कितना अधिक साम्य है!

ब्रूटस को फाँसने के लिए कैसियस कई तरह के अक्षरों से चिट्ठियाँ लिख भिजवाता है, चाणक्य भी राक्षस को फाँसने के लिए शकटदास के द्वारा अद्भुत पत्र लिखवा कर भेजता है।

कैसियस से बातचीत होने के बाद से ब्रूटस रात-रात भर जगता है (I have been up this hour, awake all night) उधर चाणक्य-नीति से निरन्तर चिन्तित रहता हुआ राक्षस भी करवटें बदल-बदल कर रात गुजारता है (**कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयान्त्यनिशं निशाः**)

मुद्राराक्षस के तृतीय अङ्क में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच काफी बकझक हो जाती है, चन्द्रगुप्त चाणक्य को अपमानित करता है और चाणक्य चन्द्रगुप्त को ऊँची-ऊँची फटकारें बताता है, इस घटना का सादृश्य जूलियस सिजर के चतुर्थ अङ्क के उस दृश्य से है, जिसमें कैसियस और ब्रूटस बहुत बहकने-बहसते हैं, एक भी नौबत बाकी

नहीं बचती।

पर जिस प्रकार मुद्राराक्षस मे चाणक्य की इच्छा ही से तमाम बहस-मुबाहसे होने के सबब परिस्थिति जल्द ही साफ हो जाती है, उसी प्रकार जूलियस सिजर में भी परस्पर क्षमा-याञ्चा करते हुए शीघ्र ब्रूटस और कैसियस हिलमिल जाते हैं।

एक जगह (द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में) सिजर अपने पर गरूर करता हुआ कहता है—

Cowards die many times before their deaths
The valiant never taste of death but once
Of all the wonders that I yet have heard,
It seems to me most strange that men should fear;
Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will ceme.

कायर मौत से पहले भी कई बार मर चुकते हैं, पर वीर दुबारा नहीं मरता। मुझे इससे बढ़कर अचरज की बात और कुछ नहीं मालूम पड़ती कि लोग मौत से डरते हैं, यह जानते हुए भी कि वह एक न एक रोज आएगी, और जरुर आएगी।

इधर चाणक्य भी अपनी प्रतिभा पर अद्वितीय अभिमान प्रकट करता है -

ये याताः किमपि प्रधार्य्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः
एका केवलमेव साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्य्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम।

जो अपने मन में कुछ सोचते-विचारते चले गए, वह तो पहले गए ही, जो अब तक बचे-खुचे हैं, वह भी चाहें तो जाने को तैयार हो जायँ, केवल मेरी बुद्धि—जो साधन के समय शत-शत सेनाओं से बढ़कर बलवती

है जिसने नन्द वंश का विध्वंस कर अपने अपार कौशल का विस्तारपूर्ण परिचय दिया है, मेरे पास बनी रहे। मैं इससे अधिक की आवश्यकता नहीं समझता।

यह बात सिजर की Caesar doth not wrong; Be not fond, to think that Caesar bears such rebel blood या
So in the world, if is furnished well with men,
And men are flesh and blood, and apprehensive;
Yet in the number I do know but one
That unassailable holds on his rank,
Unasked of motion : and that I em ha,
जैसी गर्वमयी बोझीली बोलियों से भी कितनी मिलती-जुलती है !

इस प्रकार की घटनाओं के साम्य से दोनों नाटक भरे पड़े है, जिनके अध्ययन से अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

मैं लिख चुका हूँ कि कैसियस और चाणक्य के चित्र में अत्यधिक समानता है। इन्हीं दोनों ने दोनों नाटकों को पूर्ण रूप से राजनैतिक बना दिया है। पर फिर भी दोनों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए कोई भी धूर्त्तता या चुस्त चालाकी का काम नहीं किया है। हाँ, आरम्भ में कैसियस के मन में अवश्य व्यक्तिगत ईर्ष्या का भाव था, पर वह उसी प्रकार चाणक्य के हृदय में भी था। एक को सिजर से डाह थी तो दूसरा नंदवंश पर डीठ गड़ाए था।

इतना ही नहीं, कैसियस अपने प्रिय टिटिनियस को शत्रुओं के फंदे में फँसा जान अपनी जान दे देता है, इधर राक्षस भी अपने प्रिय मित्र चन्दन दास को फाँसी के तख्ते पर झूलते हुए देखकर आत्म-समर्पण कर देता है। पर वस्तुतः न टिटिनियस मृत्यु-मुख में प्रविष्ट हुआ था और न सचमुच ही चन्दन दास को काल के गाल में समाना था।

—राक्षस के आत्म समर्पण करते ही चण्डाल दौड़कर चाणक्य को

खुशखबरी सुनाता है कि—'हन्त गृहीतो राक्षसः ! राक्षस कैद कर लिया गया।' इधर भी एक सैनिक, ल्युसिलियस को ब्रुटस समझ कर कैद कर लेता और ऐन्टनी को खुशखबरी सुनाने के लिए दौड़ पड़ता है कि—ब्रुटस पकड़ लिया गया, कैद कर लिया गया, महाराज ! (Brutus is taken, Brutus is taken, my lord)

ब्रुटस मृत्यु से पूर्व अपने रिपु (सिजर) की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है।

—O Julius Caesar, thou art mighty yet !

ओ जूलियस सिजर, वस्तुतः तुम्हीं महान हो !

इधर राक्षस भी अपने परम शत्रु (चाणक्य) की भूरि-भरि प्रशंसाएँ करता है –

'**आकारः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः** सब शास्त्रों का खजाना चाणक्य ही है, जैसे सब रत्नों का खजाना समुद्र है। इसके, एक साथ ही इतने अधिक गुणों को देखकर ईर्ष्या होती है। "**सर्वथा स्थाने खलु यशस्वी चाणक्यः !**" चाणक्य सचमुच यश का पात्र है।

अब नाटकों के अन्तिम पटाक्षेप का समय आ गया। महामात्य राक्षस के आत्म समर्पण के पश्चात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही उसकी ज्वलन्त प्रतिभा तथा एकाग्र कार्य्यनिष्ठा की मुखर प्रशंसा करते है। चाणक्य कहता है—

"**अये ! अयमसावमात्यराक्षसः ! येन महात्मना–**
गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे।"

और चन्द्रगुप्त राक्षस की ओर परम स्निग्ध दृष्टि से देखता हुआ चाणक्य से निवेदन करता है कि—

"**जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम्**
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्य्ये त्वयि च जाग्रति"

भला आप जैसे महामात्य तथा नीतिनिष्णात गुरुवर चाणक्य को प्राप्त कर संसार की कौन सी वस्तु मेरे लिए पाने को बाकी रह गई ?

इधर ब्रूटस के 'आत्मसमर्पण' (मृत्यु) के अनन्तर एन्टनी और और ऑक्टेवियस भी दिल खोलकर उसकी तारीफें करते हैं। एन्टनी कहता है—

This was the noblest Roman of them all

× × × ×

His life was gentle, and the elements
So mixed in him that nature might stand up
And say to all the world—'This was a man'

यह रोम का सबसे अधिक भद्र व्यक्ति था। पक्षपात तो इसमें लेश मात्र का नहीं था, बिलकुल तपाया हुआ खरा सोना था। इसके उज्ज्वल जीवन में अनेकशः ऐसे विभिन्न गुणों का सामञ्जस्य था, मानो स्वयं प्रकृति ही इसे सर्वश्रेष्ठ स्वरूप प्रदान कर संसार को दिखला रही थी कि—देखो, यह है मानव; ऐसे ही को मनुष्य कहा जाता है !

और आक्टेवियस भी उसी प्रकार कहता है—

According to his virtue let us use him,

हमारा कर्त्तव्य है, कि उसके (ब्रूटस के) गुणों के अनुकूल ही हम उसके साथ बरतें।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक दोनों नाटकों में पर्य्याप्त सादृश्य रहने पर भी जो आन्तरिक वैसादृश्य है, अब संक्षेप में मैं उसी की समीक्षा करूँगा।

३

रस की समतल भूमि से अविराम बहती हुई मुद्राराक्षस की भाव-धारा में हमें जो मन्द्र-सान्द्र रव या मन्दमन्थर यति-गति मालूम पड़ती है, जूलियस सिजर में उसका अभाव है। यहाँ तो आरम्भ से तीन अंकों तक

भाव-नाट्य का जो तीक्ष्ण प्रखर प्रवाह है, वह वलात् हमें अपनी तरफ खींच लेता, तथा अकूल, अछोर की ओर वहा ले जाता है; हमें किनारा मिले, न मिले, उसे इसकी तनिक भी परवा नहीं रहती है। हम मानो मझधार में पड़कर पुकारने लगते हैं—

"Help me, or I sink" बचाओ मुझे, नहीं तो अब डूबा। इस समय हमारी तन्मयता इतनी एकाग्र, जागरित तथा सजीव हो जाती है, कि रस-सिद्ध कवि के लिए 'वाह' कहने भर को भी हमें अवकाश नहीं मिलता; हम एकपल भी रुकना नहीं चाहते, और सच तो यह कि चाहें भी तो रुक नहीं सकते! इतनी ही प्रखर प्रबल धार है वह सचमुच!

पर यह क्रम बराबर जारी नहीं रहता, एकाएक हमारी गति शिथिल से शिथिलतर पड़ने लग जाती है, हमें एक एक कदम पर रुक-रुक जाना पड़ता है, जैसे पैर बँध गए हो, हम बड़ी ही वक्र दृष्टि से नाटककार की ओर घूर कर 'आह' कह देते हैं। यह है तृतीय अंक के उत्तुंग शृङ्ग से चतुर्थ अंक की सूखी जमीन पर गिर जाना!

यहाँ हम श्रान्ति-क्लान्ति का कटु अनुभव करने लगते हैं, जैसे (साक्षात्) 'जीवन' को छोड़ कर 'जीवन-चरित्र' पढ़ने का प्रयास करना पड़ता हो! हम पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए अब नाटक के कथानक पर आ जाते हैं। ऐन्टनी की भविष्य-वाणी को वर्त्तमान में देखने की तैयारी करते हैं। कुछ आनन्द नहीं, उत्कंठा नहीं; फिर भी मानो नाटक की परीक्षा में पूर्ण अंक प्राप्त करने के लिए हमें सब अंक पूर्ण करने ही पड़ते हैं। खैर। अस्त्र-शस्त्रों, सैनिकों, सिपाहियों के बीच से किसी तरह निकल हम पाप-पुण्य, हास-अश्रु, दिन-रात के सन्धि-स्थल पर पहुँचते हैं, जहाँ सिजर का हत्यारा ब्रुटस, देश भक्ति, लोक सेवा, सत्य मानवता के भव्य भावों से सुघरता पूर्वक सँवारा ब्रुटस आत्म-हत्या करता हुआ नजर आता है। यह दृश्य इतना द्रावक तथा मार्मिक मालूम होता है कि हमारी टकटकी बँध जाती है, हम काठ बन जाते हैं, न आँखों में आँसू छलछलाते

और न पास ही खड़े विजयी 'आक्टेवियस' की ओर देखकर तनिक हँसी ही आती है। जैसे हमारी सारी सहानुभूति, समवेदना बह गई हो! हम न किसी की जीत देखने को खड़े हों और न किसी की ऐसी हार!

इतने ही में आक्टेवियस अपनी इच्छा प्रकट करता है—

So call the field to rest; and let's away,
To part the glories of this happy day.

बचे-खुचे लोगों को आराम करने के लिए जाने की। बस हम भी उन्हीं के साथ-साथ चुपचाप चले जाते है, उस विजय दिवस की प्रसन्नताओं में भाग ग्रहण करने के लिए नहीं, अपने पथराए नयन और मन को अपनी उज्ज्वला से पिघला कर, सिजर और ब्रुटस की दर्दनाक मौत की फिर-फिर यादकर आठ-आठ आँसू बहाने के लिए। हाँ, यह कहना तो भूल ही गए कि बीच में छन भर जो दुख के साथ रुकना पड़ा था,-उससे हमें अन्तिम स्थल तक दौड़ कर जाने में सुविधा ही हुई। एक शिला मिली, पर उससे टकराने पर जैसे जलधार में पुनः क्षोभ आ गया; वेग की तीव्रता बढ़ गई। रोने ही के लिए सही, हमें तैयार होते देर न लगी। मन मिलाकर 'जूलियस सिजर' ने हमें अपने में मिला लिया, हमारा अपनापन छीन लिया। हमने हँसते-रोते अपने को खो दिया।

पर मुद्राराक्षस में इस तरह का बहाव या चढ़ाव-उतार देखने को नहीं मिलता। उसमें गति है, पर क्षिप्रता नहीं है; कला है, पर अनुभूति नहीं है; संयम है, पर हृदय नहीं है; जीवन है, पर रस नहीं है। इसका कारण? इसका कारण यह नहीं कि कवि के हृदय में रस-सृजन की समग्र सामग्री, या भावों के परिपाक की पर्य्याप्त विदग्धता (शक्ति) नहीं है, वह सब तो है ही, पर वह अपने को खोलकर रखने में सफल नहीं हो सका है। मुद्राराक्षस गम्भीर है, निष्पन्द तथा प्रशान्त है, उसमे लोल हिलोर, तुङ्ग तरङ्ग, ज्वार-भाटे की कमी है। वह द्रवित कर सकता है पर झकझोर नहीं सकता! इसका कारण? इसका कारण यह है कि उसके कवि को संस्कृत नाटक

के नियत नियमों के पालन करने की जितनी चिन्ता रही है, उतनी पात्रों और दर्शकों के साथ एकतान होकर अपने को पिघला देने, घुला देने, बहा देने की नहीं। और चूंकि वह स्वय नहीं बहा, कोई दूसरा भी किनारे से हिलना नहीं चाहता। मुद्राराक्षस को हमें समझ-बूझ कर पढ़ना पड़ता है, हम उसमे अपने को खो नहीं सकते। इसलिए मेरे विचार से मुद्राराक्षस, नाटक मे अधिक काव्य, और पद्य से अधिक गद्य है। नाटक की दृष्टि से जूलियस सिजर मुद्राराक्षस से अधिक सफल है।

चाणक्य को किसी तरह राक्षस की अँगूठी मिल जाती है, और वह उसी से उसे सब ओर से विवश कर अपने वश में कर लेता है। वहाँ न कोई सिजर है, न एन्टनी, न पोर्सिया और न कुछ खास किस्म की समस्याएँ ही। समस्याओ के अभाव मे, संघर्ष में ज्वलंत जीवनी शक्ति के विना, ऐसा लगता है, जैसे सारे नाटक में 'नाटक' ही हो रहा हो! चाणक्य अपनी अभिनय-चातुरी को भिन्न-भिन्न प्रकारों से दिखला रहा हो! और कभी-कभी हम भी बीच-बीच मे बोल उठते हों—वाह, यहाँ तो बड़ी अच्छी ऐक्टिंग हुई! मालूम पड़ता है, कवि ने अपनी ऐसी (अपने को अभिव्यक्त करने की) अपूर्णता को ही नाटक के दूसरे पद्य (पादयोर्विभेदन्तीमदनतिमवनेः के द्वारा रुङ्कृतित कर दिया है।

४

सिजर की तुलना न मलयकेतु से हो सकती है और न चन्द्रगुप्त ही से। इसे 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' कह सकते हैं। दोनो नायको मे बाहरी-भीतरी किसी भी तरह की इकाई नहीं है, यानी नही हो सकती। ऐन्टनी-जैसे पात्र का अभाव मुद्राराक्षस को फीका कर देता है, भागुरायण या विराधगुप्त के साथ उसकी तुलना निरर्थक होगी। उपरिलिखित जिन-जिन घटनाओं में हमें आपाततः सादृश्य प्रतीत होता है, वह भी

वास्तविक नहीं है। बचे ब्रुटस और राक्षस; कैसियस और चाणक्य; सो इनमें भी समानता से अधिक असमानता ही प्रतिभासित होती है। ब्रुटस के साथ कैसियस का जो राजनैतिक धूर्त्ततापूर्ण व्यवहार बतलाया गया है, वह बहुत ही थोड़े समय,—यानी आरम्भ के एक अङ्क मात्र के लिए है, किन्तु राक्षस के साथ चाणक्य की चातुरी भरी चालें शुरू से आखिर तक रहती; बल्कि नाटक का वही वर्ण्य विषय रहता है। ब्रुटस और कैसियस एकमति होकर जिस कार्य्य को अपने हाथ में लेते हैं, वह अधिक नाटकोपयोगी, रोमांटिक तथा भावपूर्ण तो है ही, नाटक का असली वर्ण्य विषय भी वही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रुटस के साथ कैसियस जिस काम को क्षन भर में समाप्त कर देता है, वह काम मुद्राराक्षस भर मे राक्षस के साथ चाणक्य द्वारा होता रहता है; और ब्रुटस तथा कैसियस साथ मिल कर जिस प्रधान कार्य्य में लगते; मर मिटते हैं, मुद्राराक्षस में उसकी एकदम गुंजाइश नहीं। दूसरे शब्दों में, इसे हम यों कह सकते हैं कि जूलियस सिजर का जहाँ से आरम्भ होता है, वहाँ मुद्राराक्षस समाप्त हो जाता है।

ब्रुटस जब कैसियस के फंदे में फँस जाता है, तो हम जैसे उसका भविष्य देखने के लिए अति उत्सुक तथा एकाग्र हो जाते हैं; किन्तु जब राक्षस चाणक्य के अधीन में आ जाता है तो हम एकदम आँखें बंद कर लेते हैं; हमें कुछ भी देखने की इच्छा नहीं रह जाती। इस प्रकार आरम्भ और अन्त के सदृश ही दोनों के चरित्र में भी विचित्र विसदृशता मालूम पड़ने लगती है। ब्रुटस अव्यावहारिक, दार्शनिक तथा अदूरदर्शी देशसेवक है; किन्तु राक्षस विद्वान्, बुद्धिमान् और व्यावहारिक के साथ साथ पटु राजनैतिक भी है। चाणक्य उसके इन्हीं गुणों पर रीझ कर उसे अपने पक्ष में लाने के लिए इतनी युक्तियो का आश्रय लेता है। ब्रुटस इतना सीधा या अबोध है कि षडयंत्रकारियों की कुटिलता को जान कर भी उन्हें अपने साथ मनमाना करने का अवसर दे देता है। अँधेरे में

(भोर होने से कुछ पूर्व) जब उसके पास षड्यंत्रकारियों का नकाबपोश करदल पहुँचता है, वह मन ही मन कहने लगता है—"ओ षड्यंत्र ! इस अँधेरी रात में भी तुझे अपनी काली सूरत दिखलाते शर्म मालूम पड़ती है, जब कि दुनिया भर की बुराइयों से खुल खेलने का यही ठीक वक्त है ? अफ़सोस ! तो तुझे दिन के प्रकाश में ऐसा अन्ध आवास कहाँ मिलेगा, जहाँ तू अपने कमीने चेहरे को छुपा कर रख सकेगा ? O Conspiracy,
Shamest thou to show thy dangerous brow by night
When evils are most free ? O, then by day
Where wilt thou find a cavern dark enough
To mask thy monstrous visage ?" इसे सुनते ही हमारे हृदय पर ब्रूटस के सरल स्वभाव का प्रभावशाली भाव अङ्कित हो जाता है, पर दूसरे ही क्षण हम उसे अपने मित्र के हत्यारे के रूप मे देखकर दंग रह जाते हैं ! जनता के हित के लिए (!) जहाँ वह मित्र सिजर को मारता है, वहाँ उसके लड़कपन का अच्छा परिचय मिलता है। उसने पहले कहा था कि मुझे सिजरिज़्म मे विद्रोह करना है, सिजर (व्यक्ति) से नहीं; इसलिए क्या ही अच्छा होता, यदि सिजर की आत्मा 'क़त्ल' कर दी जाती और शरीर एकदम अछूता छोड़ दिया जाता। पर वह करता ठीक इसके विरुद्ध है, सिजर के शरीर को तो काट डालता है पर उसकी आत्मा की छाया भी नहीं छू पाता। ऐन्टनी को जिन्दा छोड़ कर वह अपने नाश का आवाहन ही नहीं करता, सिजरिज़्म की प्रबलता, प्रौढ़ता के आगे अपनी लघुता का सुस्पष्ट प्रचार भी करता है।

दूसरी ओर राक्षस अपनी प्रभुभक्ति तथा राजनैतिक शक्ति का इतना सुन्दर स्वरूप प्रकट करता है कि चाणक्य जैसा कूटनीतिज्ञ भी उसे शाबासी देता है—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे

यह वही राक्षस है जिसने रात दिन जगकर, गम्भीर उपायों और

बंदिशों द्वारा बहुत-बहुत दिनों तक चन्द्रगुप्त की सेना को परेशान किया, और मेरी बुद्धि के भी छक्के छुड़ाए।(याद रहे चाणक्य की यह वह बुद्धि है, जिस पर उसे सब से बढ़कर नाज है, जिसे वह सैकड़ों सेनाओं से बढ़चढ़ कर मानता है—**एका केवलमेव साधन-विधौ सेनाशतेभ्योऽधिका, नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम)** !

इतना ही नहीं, जब कृत्रिम चण्डालों द्वारा उसे राक्षस के कैद होने की खबर मिलती है, तो वह खुशी से बाँसों उछल कर पूछता है कि बताओ-बताओ, किसने ऊँची-ऊँची लपटोंवाली आग को कपड़े के छोर में बाँध लिया ? किसने हवा को फन्दे में फाँस लेने की हिम्मत की ? किसने मद-मस्त हाथियों को पछाड़ कर दहाड़नेवाले सिंह को पिंजड़े में कैद करने का साहस दिखलाया ? और वह कौन सा बाँका बहादुर है जो मगरों, घड़ियालों से भरे समन्दर को तैर कर पार कर गया ?

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ?
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?
भीमः केन च नैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ?

कहना न होगा, एक इसी श्लोक से राक्षस की धीरता, वीरता तथा गम्भीरता का कैसा महत्परिचय मिलता है !

दूसरे शब्दों मे, राक्षस के मुकाबले ब्रूटस का रंग फीका मालूम पड़ता है। वही हाल है चाणक्य के आगे कैसियस का भी। आरम्भ मे कैसियस क्रूर, कुटिल, कसाई दीख पड़ता है, बाद चतुर राजनैतिक व्यक्ति। पर वह 'मानव' कभी भी नहीं ज्ञात होता। उसमें राजनैतिकता चाहे जितनी ऊँची हो, नैतिकता साधारण दर्जे की भी नहीं ! वह जिसे मित्र बनाना चाहता है, उसके साथ भी प्रपञ्च करता है; शत्रु के लिए तो उसका स्वरूप घातक है ही। यहीं उसका नैतिक पतन है। यदि उसके जीवन से राजनैतिकता हटा ली जाय, तो उसकी सारी उच्चता बुल्ले की तरह बिला

जाय ! पर उसे उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा, क्योंकि उसकी जो राजनीति नाटक की आत्मा है, वह कौड़ी काम की नहीं। जनता की मनोवृत्ति का, देश की गति-विधि का, विश्व की परिस्थिति का,—संक्षेप में देश-काल का भी जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं; अच्छी पहचान नहीं; उसे उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ कैसे कहा जा सकता है ? जिस समय जनता के हितार्थ ब्रूटस से मिल कर वह 'रिपब्लिकनिज्म' की नींव देना चाहता था, वह काल उसके लिए एकान्त अनुपयुक्त था। कारण, उस समय जनता के लाभ के लिए एक अच्छे 'सिजर' की, डिक्टेटरशिप की जितनी जरूरत थी, उतनी प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद की नहीं। प्रजा इतनी असन्तुष्ट न थी कि वह सिजरिज्म के खिलाफ धावा बोलने की जरा भी जरूरत महसूस करती। ऐसी दशा में सिजर से भविष्यत् मे होनेवाली बुराइयों का झूठा-सच्चा अन्दाज लगा कर उसकी हत्या करनेवाले को हत्यारे से पहले राजनैतिक कहने की तबीयत नहीं होती। आरम्भ ही मे Commoners के वार्त्तालाप से हमने जान लिया है कि वह सब सिजर की खुशियों में शरीक होने के लिए बाहर निकले थे, उनके ऐसे व्यवहार से हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि प्रजा भी सिज़र का वध चाहती थी ? सच तो यह कि वह कुछ भी नहीं चाहती थी, उसमे ऐसी-वैसी कैसी भी चाह नहीं रह गई थी। ब्रूटस वगैरह सिजर की हत्या कर पब्लिक के सामने अपनी अजीब सफाई देने निकलते है। ब्रूटस एक छोटा सा भाषण भी करता है, तब खुशियों से भर कर जनता चिल्ला उठती है-- "ब्रूटस को भी सिजर बना दो !"–सिजर बना दो, अपना सच्चा साथी या सुयोग्य नेता नहीं ! यहीं ब्रूटस, कैसियस या सारे प्रजातन्त्रवादियों की अयोग्यता, अदूरदर्शिता, अनैतिक राजनैतिकता का पता लग जाता है, प्रजातंत्र की जड़ में घुन भी। रोम फिर साम्राज्यवाद ही की छत्रच्छाया में रहा, सिर्फ इन राजनीति के विद्यार्थियो का उपहास तथा विनाश हुआ। दूसरी ओर चाणक्य है, जो कूटनीति में पारङ्गत होने पर भी शेर-चीते की तरह खूँखार

नहीं है। चन्द्रगुप्त उसका परम प्रिय है, उसके साथ उसका व्यवहार पुत्र या शिष्य की भाँति रूक्ष तथा कोमल है, अप्रिय तो किसी भी हालत में नहीं। पर चन्दनदास आदि साधारण व्यक्तियों से लेकर राक्षस तक (जो उसके साक्षात् शत्रुपक्ष के हैं) से भी उसका व्यवहार अशिष्ट या अभद्रतापूर्ण नहीं होता। राजनैतिक के साथ-साथ यह उसकी नैतिक विशेषता है। वह इतना सूक्ष्म तथा दूरदर्शी है कि राक्षस जैसे राजनीतिज्ञ को भी उसकी कूटनीति के आगे बार-बार मुँह की खानी पड़ती है, असफलता शब्द से तो उसे उसी प्रकार परिचय नहीं है, जिस प्रकार 'बोना' को असम्भव शब्द से नहीं था। इसका कारण उसकी असाधारण योग्यता के अलावा उसका वैराग्यपूर्ण तपस्वी जीवन भी है, जो ब्रूटस या कैसियस के General good से बड़ी ही नहीं, बहुत बड़ी चीज है। सम्राट चन्द्रगुप्त का नौकर जब चाणक्य की टूटी कुटिया देख कर दंग रह जाता है, तो उसके साथ हमारे मन की वीणा के समवेदनाशील समस्त तार एक ही बार झङ्कृत हो उठते हैं। ऐसी करुण शान्त रागिनी फूट पड़ती है उनसे, कि चाणक्य की सारी कूटनीति की उद्दाम उच्छृङ्खलता उसी में धीरे-धीरे विलीन हो जाती है; हम जैसे आँखें मीच कर ज्योतिश्चक्र से घिरे हुए चाणक्य को त्यागी तपस्वी के रूप में देख कर अपना माथा झुका देते हैं, या यों कहिए, वह खुद-ब-खुद झुक जाता है। कैसियस तो क्या, ब्रूटस में भी हम वैसा पावन आलोक नहीं पाते। सच तो यह कि यह वैराग्य, निर्लोभता, प्रशान्ति आदि भाव विशेष कर भारत के ही हो सकते हैं, भारत का राजनीतिज्ञ भी इतना बड़ा तपस्वी होता है!

इसलिए "मुद्राराक्षस" की समाप्ति सफलता तथा सुख के साथ हुई; और "जूलियस सिजर" की समाप्ति घोर असफलता, दुःख तथा आत्महत्याओं के साथ। मुद्राराक्षस की राजनीति का नेता तपस्वी है। प्रभावशाली व्यक्तित्व, निःस्वार्थ कार्य्यपरायणता आदि अनेक अलौकिक विशेषताएँ उसके पास हैं, जब कि जूलियस सिजर में चाणक्य की

तुलनात्मक समीक्षा का विषय कैसियस इतना क्षुद्र व्यक्तित्व है कि सिजर उससे शुरू ही से घृणा करता है! ब्रूटस—जैसे अपटु, अव्यावहारिक व्यक्ति को भी उसे अपना साथी (अग्रणी) बनाना पड़ता है कि जिससे वह उसके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठा सके। ब्रूटस की व्यर्थ की सलाहों को उसे चुपचाप इसलिए स्वीकृत करना पड़ता है कि यदि रुष्ट हो कर ब्रूटस उससे अलग हो जायगा तो जनता उसे तत्क्षण त्याग देगी, क्योंकि उसे (कैसियस को) अग्रणी बना कर चलने के लिए वह किसी भी हालत में तैयार नहीं है। इसलिए यह तर्क करना कि यदि कैसियस ही षड्यंत्र का नेता होता; उसी की सलाह से सारी कार्रवाइयाँ की जातीं, तो सफलता-देवी उसके चरणों के आगे घुटने टेक देतीं, एकदम निर्मूल, निराधार है।

'जूलियस सिजर' भर में एक ही व्यक्ति सच्चा है और वह है ब्रूटस। उसका चरित्र सिजर की हत्या से पहले उज्ज्वल है; उसका उत्साह अदम्य तथा उसके विचार निःस्वार्थ तथा अत्यन्त उन्नत है। किन्तु उसने अपने पवित्र जीवन में एक ऐसा भयङ्कर पाप कर डाला अपने प्रिय मित्र, विश्वासी, जूलियस का गला घोट कर, कि उसका पतन ही नहीं, विनाश भी अवश्यम्भावी हो गया। उसकी पोर्सिया जैसी स्त्री (इसी हत्या के फलस्वरूप) मर गई। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई—उसे कार्य्य-अकार्य्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रह गया। कैसियस से झगड़ा बढ़ा ऐसे-ऐसे बेढब 'प्लान' बनाने लगा कि उसकी हार निश्चित हो गई। सच तो यह कि जूलियस सिजर को मार कर वह खुद मरने के लिए तुरन्त तैयार हो गया। पर राक्षस ऐसा नहीं है। वह अपने मित्र के लिए आत्मसमर्पण कर देता है पर हिम्मत नहीं हारता, बराबर मर्दानगी से काम लेता है। समर्पण में जो भाव है, वह हत्या में नहीं हो सकता। इसलिए सर्वस्वत्यागी चाणक्य से प्राणत्यागी कैसियस का, या आत्मसमर्पणकारी राक्षस से आत्महत्याकारी

ब्रूटस का ठीक-ठीक मुकाबला नहीं हो सकता।

५

इस प्रकार अपने-अपने चरित्रों को लेकर दोनों नाटककार अपने-अपने नाटक की सफलता पर प्रसन्न होते दीखते हैं। शेक्सपियर अपने पात्र के मुँह से कहलवाता है—

How many ages hense
Shall this our lofty scene be acted over
In states unborn and accents yet unknown !"

इधर विशाखदत्त भी अपने पात्र के द्वारा अपनी नाटक-रचना के सफल श्रम की ओर इङ्गित करता है—

कार्य्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्षं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्य्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा !

कहने का तात्पर्य्य यह कि सब मिला कर मुद्राराक्षस जूलियस सिजर से होड करता है; और विशाखदत्त शेक्सपियर से। पर इन दोनो मे कौन बढ कर है? या इनकी तुलना से क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? यह ऐसा तीर जैसा सीधा सवाल सामने आता है, जिसका जवाब मुझे नहीं देना चाहिए। हालाँकि यह दोनो 'राजनैतिक नाटक' है फलतः मेरे लिए भी राजनैतिक रीति-नीति से 'हाइ कोर्ट का फैसला' सुना देना ज्यादा अच्छा होता; और शायद मैं ऐसा ही करता भी, पर एक बात है—जहाँ तक इनमे राजनैतिकता है, मुझे साफ-साफ कहना ठीक मालूम पड़ा; पर जहाँ नाटकत्व है, साहित्य अत्यन्त नग्नता, भौतिकता, बर्दाश्त नही कर सका। दुपहर की खुली ज्योति में राजनीति आकर सामने खड़ी हो गई; शरद पूनो की आधी रात की स्निग्ध-ज्योत्स्ना मे साहित्य हँसता-हँसता छुप गया।

सितम्बर '३६

निराला की काव्य-कला

अनवरत अपराजिता आधुनिक हिन्दी-कविता के सम्मानोन्नत ललाट-पट्ट पर आज जो अनुपम सुषमामयी सौभाग्यरेखा अङ्कित है, उसमें निराला की प्रतिभा के प्रतिभासमान कुङ्कुम-कण भी सम्मिलित हैं।

यह सत्य है कि पन्त-प्रसाद-निराला की लोकप्रियता की उभय-कूल-प्लाविनी कल्लोलित त्रिवेणी में निराला की पाटल-सलिला काव्य-धारा 'सरस्वती' का पद पूर्ण करती रही है, पर विशेषता के तात्त्विक अनुसन्धान के समय उनकी यही गोपन-प्रवृत्ति लोक की कलुषित—राग-द्वेष-दुष्ट दृष्टि की ज्वाला से परे, चिर-द्युति और चिर-शीतलता का कारण हो सकती है। जटिलता और कठिनता का कलङ्की निराला का काव्य वस्तुतः कितना व्यापक और महान् है—यह भविष्यत् के समीक्षकों की अन्तर्दृष्टि तथा अन्तःशक्ति की अपेक्षा करने वाली बात है, पर इस समय तो उसकी ओर दृष्टिपात करने पर संस्कृत के एक कवि के वही शब्द मेरे मुँह से अकस्मात् निकल पड़ते हैं, जो उसने मरुस्थल को लक्ष्य कर कहे थे,—"हे मरु! इस विशाल विश्व का वैसा कोई भी अनर्थ बाकी नहीं बचता, जो तुम्हारे वोट नहीं। तुम्हें खुद हमेशा भीतर ही भीतर जलते रहना—अन्तः सन्ताप का अविरत अनुभव करना पड़ता है। कोई बटोही तुम्हारी तरफ रुख तक नहीं फेरना चाहता। लेकिन् हाँ, यह सब कुछ होने पर भी तुम निरर्थ—निष्फल नहीं हो। तुम्हारी वजह से एक बहुत बड़े अर्थ की सिद्धि होती दिखती है। और वह यह कि थोड़ी सी बूँदों की पूँजी पर इतराने चलनेवाले बादलों की असलियत तो तुमने भलीभाँति समझा ही दी है कि तुम्हारे माथे पर गरजने-तरजने के अलावा वे और क्या-क्या कर सकते हैं!'

जबकि जमाने से जमाने का साहित्य "छबीली भठियारिन, तोता-मैना" रहता आया है; राधेश्यामी रामायण की लाख-लाख प्रतियाँ

बाजारों में हाथों-हाथ खरीदकर जनता अपनी परिमार्जित रुचि तथा मानसिक उच्च-स्तर का पता बताती रही है तब यह गैरमुमकिन मालूम पड़ता है कि इस "जनता-जनार्दन" के युग में, जन-साहित्य की रीति-नीति के कतई खिलाफ—

'भारत के नभ का प्रभापूर्य्य
शीतल-च्छाय सांस्कृतिक-सूर्य्य
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य्य दिङ्मण्डल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है ऊर्म्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल !'

-ऐसी रचना में कोई 'शिरस्त्राण' या 'तमस्तूर्य्य'-ऐसे पदों का मार्मिक सौन्दर्य्य, काव्यगत ओज अथवा "है ऊर्म्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल", में शब्दों के बेरोक बहाव के भीतर से सचमुच ही लहराती हुई लहरों को देखने के लिए अपने अमूल्य समय को खतरे में डालना पसंद करे ! विशेषतया तब, जबकि बिना किसी अड़चन के, प्रसाद-गुण और वैदर्भी रीति से युक्त गुप्त जी का साहित्य प्राप्त होता हो—

"पवन कुसुम-पट झटक रहा है,
भौंरे को यह खटक रहा है,
दोनों का मन अटक रहा है,
इनमें ही अनुकूलो !"

सो कोई कारण नहीं कि समष्टि (Majority) से बगावत की साधना रखते हुए भी मैं निराला की कविता-सिकता से 'नव उज्ज्वल जल-धार' निकालने की फालतू कोशिश करूँ। पर एक बात है, मुझे ढाक के हरे-भरे घने जगलों से उतनी खुशी नहीं होती, जितनी 'तुर्की' (मुजफ्फरपुर) स्टेशन के पास खड़े उस अद्भुत, एकाकी पेड़ को देखकर होती है, जिसका नाम किसी को नहीं मालूम, जिसके फल से किसी का

भी मुँह मीठा नहीं हुआ, पर कहतेहैं, जिसके जोड़ का एक ही पेड़ कहीं इतनी बड़ी दुनिया में पाया जाता है।

संस्कृत में कालिदास की कविता के जितने प्रशंसक हैं, उतने समझदार नहीं। हो भी नहीं सकते। कारण, "तारीफें कुछ अन्ध विश्वास की तरह फैलती जाती है, जाँच के वक्त सचाई की आँच के आगे वह मोम की तरह पिघल पड़ती हैं। मैं अपवाद पर विवाद करना नहीं चाहता। हाँ, तो कालिदास की कविता के हल्केपन की तारीफ मे जो आप दूर-दूर उड़नेवाले है, वे उसकी गुरुता कैसे समझ सकते हे ? इसीलिए आलोचना-ग्रन्थों ने कविता को हमेशा सहृदय-हृदय-संवेद्य ही कहा है। और तब भी कवि को यह कहने का सम्पूर्ण अधिकार है कि—

"कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !"

साहित्य मे चाहे समाज की मूर्त्ति ही विराजमान रहती हो, कवि चाहे समाज का प्रतिनिधि ही हो, पर साहित्य—उच्च तथा प्रौढ साहित्य कभी भी जन-साधारण की - सर्व समाज की वस्तु होने के लायक नहीं, क्योंकि साहित्य और समाज मे जितना सामञ्जस्य है, उतना ही भेद भी है, साहित्य समाज से हमेशा उन्नत स्तर पर रहता है।

यदि कालिदास की कविता समाजवादियों की धारणा-सी केवल सरल होती, तो जब संस्कृत के अहलेजबां लोग भी थे, न तो उसके अर्थ का अनर्थ किया जाता और न मल्लिनाथ को यह लिखने की जरूरत पड़ती—

"कालिदासस्य कविता दुर्व्याख्या-विष-मूर्च्छिता,
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति।"

और फिर उतने बड़े विद्वान् टीककार को इस नन्हें से काम के लिए आत्म-प्रशसा करने की, जबर्दस्ती उसे पेंचदार या अत्यन्त दुरूह बताकर यह ऐसा पद्य लिखने की भी कोई आवश्यकता न होती—

"कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती,
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः !"

इसे केवल नम्रता-निदर्शन नहीं कहा जा सकता। कहना हास्यास्पद भी होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि ऊँची कविताएँ सर्व-सुगम नहीं होतीं, और यह भी कि सिर्फ सादगी ही ऊँची कविताओं की पहचान नहीं है।

वर्ण-विन्यास-कला

१

सुन्दर शरीर के माध्यम से उदात्त आत्मा का अवतार अत्यन्त दुर्लभ है। कृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति में ईश्वर की सकल-कलाओं का समावेश मानना सौन्दर्य्योपासना का ऐसा ही आवेश है। सुन्दर भाषा ही कविता की शरीर-सुषमा है। भीतरी गुणों के सम्यक् परिचय से वञ्चित रहने पर भी बाह्य-सौन्दर्य्य अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहता।

"ललित लवङ्ग-लता-परिशीलन-
कोमल-मलय-समीरे,
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-
कूजित-कुञ्ज-कुटीरे"

सुन कर शायद ही कोई व्यक्ति व्याख्या के लिए अड़ा रहेगा। इसीलिए 'सुबन्धु' ने 'वासवदत्ता' में बताया है—

"अविदित-गुणापि सत्कवि-भणितिः
कर्णेषु वमति मधु-धाराम्,
अनधिगत-परिमलापि हि हरति
दृशं मालती माला।"

अन्तर्दर्शन से पहले मैं उसी—काव्य के 'शरीर-स्वरूप 'भाषा' गत सौन्दर्य्य, अर्थात् वर्ण-विन्यास-कला से यहाँ आरम्भ करता हूँ।

काव्य की भाषा 'भारवि' के शब्दों में 'प्रसन्न-गम्भीर-पदा' हो या

'जयदेव' की उक्ति के अनुसार 'मधुर-कोमल-कान्त-पदावली' वाली, किन्तु उसे Pope की अनुभूति के अनुरूप—"It is not enough no harshness gives offence, The sound must seem an echo to the sense." होना ही चाहिए। मेरा खयाल है कि निराला जी ने अपनी कविताओं में अधिक से अधिक भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। वह कालिदास या वर्ड सवर्थ की भाषा की भाँति सरल या स्वाभाविक भले ही न हो, पर टेनिसन या भवभूति की भाषा के समान 'नाद-प्रधान' तो है ही।

वह जब ओजस्वी छंद लिखते है, माइकेल और मिल्टन से भी आगे बढते दीख पडते हैं, अपने अजस्र विद्युत् प्रवाह और सजल-मेघ-मन्द्र ध्वनि (Sound) के कारण। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' उनकी इस शक्ति के उज्ज्वल उदाहरण हैं। माइकेल या मिल्टन में यदि उद्दाम उद्वेग है तो निराला मे आँधी-तूफान; उनमे अगर बिजली की कड़क है तो इनमें वज्र का निर्घोष।

'ये अश्रु राम के" आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार,
हो श्वसित पवन-उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग भङ्ग उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव,
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।"

—राम की शक्तिपूजा

समग्र "पैराडाइज लॉस्ट" या "मेघनाद वध" में सन्तुलित भाव-भाषा के आवेग से उन्मत्त इसके मुकाबले का ओजस्वी 'बन्द' मिलना मुश्किल है।

"करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय,
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।
कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्म्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया तम तरने को.
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार
तोड़ने को विषम-वज्र-द्वार
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को!"

—तुलसीदास

यह है निराला की ओजस्विनी, तेजस्विनी अपनी वाणी। जैसी आवेगपूर्ण उद्भावनाएँ, वैसी ही मेघ-मन्द्र भाषा!
भादों के उमड़े काले बादलों मे शरद् के सूर्य्य की कितनी प्रखर ज्योति कैद है! कैसी अग्नि-वीणा मे कैसा आग का राग!

मै इसे ही वर्ण-विन्यास-कला कहता हूँ। यह शब्द-कला अनुप्रास या यमकादि से विशेष बहुमूल्य है। यह कष्ट-क्लिष्ट या अधम काव्य कह कर टाल देने की चीज नहीं।

"एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारय."

यहाँ गकार या दकार के अनुप्रास मात्र के लिए कवि भवभूति ने 'गद्गदनदद्' नहीं लिखा है, प्रत्युत उसके इन्ही वर्णों ने गद्गद शब्द करती

हुई गोदावरी की नीर-धार की साफ और सच्ची तसवीर उतार दी है।

"नजरुल इस्लाम" की अधिकांश काव्य-कृतियों में इस कला का प्रभुत्व है। और निराला जी में तो 'The sound must seem an echo to the sense' का मर्म प्रत्येक पद-विन्यास पर मालूम किया जा सकता है।

१— झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन-घोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
अरे वर्ष के हर्ष,
बरस तू बरस-बरस रस-धार,
पार ले चल तू मुझको,
दिखा मुझको भी निज गर्जन-भैरव संसार।
उथल-पुथल कर हृदय मचा हलचल
मेरे पागल बादल! चल रे चल
धँसता दल-दल
हँसता है नद खल खल—
बहता, कहता कुलकुल-कलकल-कलकल!
—"परिमल"

२— मौन रही हार
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृंगार!
कण-कण कर कङ्कण
प्रिय किण-किण रव किङ्किणी
रणन-रणन नूपुर उर लाज लौट रङ्किणी;
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार!
"—गीतिका"

३— अस्ताचल रवि जल छल-छल छवि

स्तब्ध विश्व-कवि जीवन उन्मन,
मन्द पवन बहती सुधि रह रह
परिमल की कह कथा पुरातन !

—"गीतिका"

४— घोर शिशिर, डूबा जग अस्थिर,
तिमिर-तिमिर हो गए दिशा-पल,
प्रति-तरङ्ग पर सिहर अङ्ग भर,
व्याकुल तरुणी तरणी चञ्चल !

× × ×

सौध-शिखर पर प्रात मनोहर
कनकगात तुम अरुण चरण धर,
सरणि-सरणि पर उतर रही भर
छन्द-भ्रमर गुञ्जित नालोत्पल !

—"गीतिका"

५— मधु ऋतु रात, मधुर अधरों की
पी मधु सुध-बुध खो ली
खुले अलक, मुँद गए पलक-दल
श्रम-सुख की हद हो ली !

—"गीतिका"

प्रत्येक कविता के शब्द अपने भावों को आत्मनैव निवेदित कर रहे है। खुले दल की सुरभि आप अपनी पहचान—अपने कुसुम के रूप-नाम बता रही है।

प्रथम पद-बन्ध के गाते समय ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे सचमुच सामने के आसमान में बादल दल झूम रहा, मँड़ला रहा, गरज रहा हो; सचमुच ही कोई उन्मद नद कल-कल कुल-कुल करता बह रहा हो ! इसमे 'टेनिसन' की—

I chatter over stony ways,
In little sharps and trebles
I buble into eddying bays,
I babble on the pebbles

The Brook.

I bable on the pebbles *जिस प्रकार 'ब्रूक' की अपनी ही बोली जान पड़ती है, उसी प्रकार का नाद-सौन्दर्य्य* **'धँसता दल-दल, हँसता है नद खल-खल,'** *में मिलता है। नद की 'खल-खल' हँसी, कल-कल कहते बहना अनमोल है।*

दूसरे में, कङ्कण-किङ्किणी और नूपुर की धुन सुन रुक-रुक कर डगमग पग रखती, सहृदय वधू की मुग्ध आशङ्काओ से किसे सहानुभूति न होगी! कण-कण,-किण-किण,-रणन-रणन की ध्वनि-तरङ्गें मुखर आभूषणों की खुली बगावतें हैं।

*तीसरे में, सन्ध्या-समय सूर्य्य के अस्ताचल पर पहुँचते ही एक अजीब उदासी, सन्नाटा छाया हुआ है, धीरे-धीरे बयार डोल रही है, पानी जैसे 'छल-छल' गे रहा है। ऐसे स्तब्ध-उदास धूम्र-धूमिल वातावरण की सृष्टि करने में ध्वनिमय—***'अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि'** *पद कितना सफल है! इसके सामने 'शेली' की*

"The sun is warm, the sky is clear.
The waves are dancing fast and bright"

या 'वर्ड्सवर्थ' की

"It is a beauteous evening, calm and free,
The holy time is quiet as a Nun
Breathless with adoration; the broad sun
Is sinking down in its tranquility."

ये पंक्तियाँ प्रचुर-भाव-भरित रहने पर भी कैसी सूनी-सूनी-सी लगती है!

चौथे में, "**प्रति-तरङ्ग पर सिहर अङ्ग भर**" या "**सौध शिखर पर प्रात मनोहर, कनक गात तुम अरुण चरण धर**" पढ़ते समय जयदेव के–'**निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्**' या विद्यापति के-'**काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि ढारत सुरसरि-धारा**' की सारी माधुरी मुँह मे भर जाती है।

और पाँचवे में, "**खुले अलक, मुँद गए पलक दल**" प्रणय की ख़ुशबू-भरी साँस से हौले-हौले हिलती मोती की ललित लड़ी की तरह अपनी शृङ्गार-सुषमा को स्फुट कर रहा है।

ऐसे शब्दों के सञ्चयन में, सुगुम्फन में कितनी तन्मयता, कितनी बारीकी है—यह कवि के साथ एकतान होकर आप अनुभव करना चाहिए। कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य, कहीं शृङ्गार और कहीं कारुण्य की यह सर्वत्र सफल सृष्टि कवि की कितनी सच्ची साधना की परिचायिका है—यह भी निष्पन्न भाव से विचार करना चाहिए। मैंने उदाहरणों मे इसीलिए विविधता का आश्रय लिया है। ओज और माधुर्य्य का तो निराला जी ने समान-रूप से सर्जन किया है—जैसे शृङ्गारिक और दार्शनिक भावों का। इसके प्रमाणार्थ सिर्फ '**जागो फिर एकबार**' की दोरुखी तसवीर देखना भी काफी होगा। "माधुर्य्य की स्फूर्त्ति में" कवि कहता है—

"प्यारे ! जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार,
जागो फिर एक बार !
आँखें अलियों-सी किस मधु की गलियों में फँसीं
बंद कर पाँखें ?
पी रही हैं मधु मौन ?
अथवा सोईं कमल-कोरकों में ?
—बंद हो रहा गुञ्जार ?

जागो फिर एक बार !

और दूसरी बार "ओज की ज्योति में" जगाता है—

"समर में अमर कर प्राण
गान गाए महासिन्धु से
सिन्धु - नद-तीर - वासी,
सैन्धव तुरङ्गों पर
चतुरङ्ग-चमू-संग
—सवा-सवा लाख पर एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज नाम जब कहाऊँगा !
किसने सुनाया यह वीर-जन-मोहन
अति भैरव संग्राम राग ?
फाग का खेला रण बारहों महीनों में ?
शेरों की माँद में आया है आज स्यार !
जागो फिर एक बार !

एक ओर से सुकुमार शृङ्गार का सुन्दर रंगीन चित्र देता है—

"अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में चित्रित हुई है देख,
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय
आशाओं-भरी, मौन भाषा—बहु-भावमयी,
हेर रही चन्द्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद-उर-यौवन-उभार
जागो फिर एक बार !

दूसरी तरफ से दर्शन का सूर्य्योज्ज्वल प्रकाश दिखलाता है—

सत् श्री अकाल
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल
तीनों गुण, ताप त्रय
अभय हो गए थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान
अमृत-सन्तान तीव्र भेद कर सप्तावरण मरण-लोक
पहुँचे थे वहाँ, जहाँ आसन है सहस्त्रार !
जागो फिर एक बार !!

यह द्विविध निर्माण "प्रिय-प्रवास" और "चोखे चौपदे" की भाषा की तरह केवल द्विविधा में डाल देनेवाला नहीं. रस-सिद्ध कवि के शाब्दिक तथा आर्थिक सन्तुलन; साहित्य तथा दर्शन के मर्म-स्थान पर समान अधिकार—एक शब्द में महाकवित्व का व्यञ्जक है।

(२)

पण्डितराज जगन्नाथ ने छन्दोबन्धन में लयमय विश्राम दे-देकर स्वर-व्यञ्जनों की आवर्त्तमयी एक ऐसी कलोल-ध्वनि दी है, जिससे उनके काव्योद्यान में हमेशा मधुमास कोयल की कूक और भौंरे का गुंजार भरता रहा है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि वैसे नाद-सौन्दर्य्य पर उनसे पहले या बाद के अन्य कवियों ने दृष्टिपात किया ही नहीं किन्तु उन्हों ने अपनी समस्त रुचिर रचनाओं के भीतर उसे गौरव देकर उसके सङ्गीत-माधुर्य्य या अङ्ग-भङ्गि के प्रति जो अपना आन्तरिक आग्रह प्रकट किया है, इसलिए मैं उन्हें ही इस सूक्ष्म-सौन्दर्य्य का पहला पारखी मानता हूँ। वैसा शब्द-बन्ध भावों को सँवार कर उन्हें और अधिक स्पष्ट तथा आकर्षक बना देता है। मै उसे महज अनुप्रास न कह कर सौन्दर्य्य ही के अम्बुधि की स्वर्णाभ तरङ्ग कहूँगा, यों रूप में हाड-चाम की तरह वह भी शब्दों की आवृत्ति या curl के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"अमन्द-मिलदिन्दिरे निखिल-माधुरी-मन्दिरे
मुकुन्द-मुख-चन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम्।"

× × ×

"कलिन्द-नग-नन्दिनी-तट-सुरद्रु मालम्बिनी
मदीय-मति-चुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी।"

× × ×

"तावत्कोकिल! विरसान्
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्
यावन्मिलदलिमालः
कोऽपि रसालः समुल्लसति!

× × ×

"विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवताम्।" इत्यादि।

इनमें 'इन्दिरे' के स्वल्प-विराम के अनन्तर 'मन्दिरे' और 'चन्दिरे' की आवृत्ति-भंगि; 'नन्दिनी' के श्रवण-सुखद उच्चारण करने पर 'लम्बिनी' 'चुम्बिनी' और 'कादम्बिनी' का सरस सङ्गीत; 'विरसान्' के बाद 'दिवसान्' 'अलिमालः' के पश्चात् 'रसालः' का रसना-रसाल अधर-स्पर्श; और 'वानीर' के साथ 'तीरं' का धीर-मिलन सहृदयों के लिए विशेषतया प्रमोद-प्रद है।

ऐसे आवर्तों का सुन्दर उपयोग Shelley *ने भी अपने* Cloud *में किया है —*

"I bring fresh showers for the thirsting flowers"
"From my wings are shaken the dews that waken"

यहाँ भी 'शावर्स' और 'फ्लावर्स', 'शेकेन' और 'वेकेन' में वैसी ही सङ्गीत-माधुरी मिलती है। तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ प्रभृति महान् से महत्तर कवियों से भी यह कला अछूती नहीं रही है। किन्तु निरालाजी ने तो अपनी समस्त कमनीय कृतियों में इसकी प्रतिष्ठा की है:—

(क) "यौवन को माया-सा आया

मोहन का सम्मोहन ध्यान"

× × ×

"किस विनोद की तृषित गोद में"

× × × ×

"कह, सोया किस खंजन-वन में
उन नयनों का अंजन-राग ?"

× × ×

"चमक रहे अब किन तारों में
उन हारों के मुक्ता-हीर ?" ——— (परिमल)

+ + +

(ख) "जग के रंगमंच की संगिनि"

+ + +

"प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव"

"यहाँ स्नेह की प्रतनु देह की बिना गेह की बैठी नूतन"

× × ×

"काट अन्ध उर के बन्धन स्तर"

× × ×

"बजे सजे उर के इस सुर के सब तार !"

"वर्ण गन्ध धर मधु मरन्द भर"

× × ×

"नील डोर का हिँडोर चढ़ी-पैंग रहता ।" ——(गीतिका)

× × +

(ग) "अन्ध-प्रगति-बन्ध, किया
सिन्धु को प्रयाण,"

+ + +

"लता-कुञ्ज में मधुप-पुञ्ज के गुन-गुन-गुन-गुञ्जन में"

+ + + +

"श्याम तन, भर बँधा यौवन,

नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन"

× × ×

"जैसे पार कर क्षार सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश, शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर।"

+ + +

मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन।"

× × ×

—(अनामिका)

विशेष विवरण की आवश्यकता नहीं, स्वयं पढ़कर ऐसे छन्द-बन्द की विशेषता उच्चारण की सुकरता और मिठास के द्वारा अनुभूत हो सकती है। मै अपनी ओर से इतना ही कहना पर्य्याप्त समझता हूँ कि यहाँ इस जिस वर्ण-विन्यास-कला पर लिख रहा हूँ, वह अशास्त्रीय नहीं है। महाकवियों ने **"शब्दार्थौ च तुलाधृताविव"**—*शब्द और अर्थ को बराबर पैमाने पर तोला है। उन्होंने शब्द सौन्दर्य्य को तरह देनेवाले के लिए महत्त्व-प्रदर्शन न कर लिखा है—***"शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते"** *यानी सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा समानरूप से करता है।* **"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"** *का विशकलन करते समय स्वयं पण्डितराज ने* **"काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः"** *उदाहरण देकर शब्द की महत्ता प्रकट की है। जब श्रवणमात्र से किसी शब्दावली को काव्य कहा जा सकता है, तो निश्चय ही उसमें ओज, माधुर्य्य, सन्तुलन, संगीत रहने चाहिएँ।*

"वक्रोक्ति-जीवितम्" के रचयिता कुन्तल ने इस कला को 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' कहा है। उन्होंने लिखा है—

'एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः

स्वल्पान्तरास्त्रिधा प्रोक्ता वर्ण-विन्यास-वक्रता
वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः द्विरुक्तारतलनादयः
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः
क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना
सा स्वराणामसारूप्यात्परां पुष्णाति वक्रताम् ।"

—द्वितोयोन्मेषे

ऊपर जिन अनेक उदाहरणों मे मैने इस कला के वैशिष्ट्य या बारीकी की ओर संक्षेप में संकेत किया है, वहाँ गूँजते हुए श्रुति-सुखद शब्द भावों के आवरण नही, आभरण हैं ।

काव्य की भाषा ओजस्विनी हो या मधुर, किन्तु उसे सुन्दर तो होना ही चाहिए । निराला जी ने सुन्दर से सुन्दरतर भाषा के नमूने हिन्दी को दिए हैं: —

"जटिल जीवन नद में तिर तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप
सतत द्रुत-गति-मयि अयि फिर-फिर
उभर करती हो प्रेमालाप !"

× × ×

"देख दिव्य छवि लोचन हारे ।
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम मृग-दृग-तारे !"

३

भारतीय समीक्षा-पद्धति के अनुसार ध्वनि कविता की आत्मा कहलाती है । जिसके काव्य में जितनी ही अधिक ध्वनि-प्रवणता होगी, वह उतना ही महान् कवि माना जायगा । आचार्य्य आनन्दवर्द्धन का कहना है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु
निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभा-विशेषम् ।"

—ध्वन्यालोके

ध्वनि का मर्म मालूम किए बगैर शब्दों की कीमत समझ में नहीं आ सकती। और जिसने शब्दों की कीमत नहीं जानी, आँधी की तरह एक की जगह ग्यारह शब्दों को उड़ाया किया, वह जनता का प्रतिनिधि कवि होकर भी सत्साहित्य की दृष्टि से नगण्य ही रहेगा। आज बाजार में जिस प्रकार की कविताएँ गाजर-मूली की तरह टके सेर बिक रही हैं, उनमें ध्वनि-तत्त्व का नाम तक नदारद है। उनके सिद्धहस्त रचयिता इस व्यर्थ 'पदार्थ' की जिज्ञासा भी नहीं रखते। मजाक यह कि उलटे वे ही ध्वनि-प्रवण गंभीर काव्य लिखनेवालों को कृत्रिम कह कर अपनी ओर Born poet होने का इशारा करते हैं। अस्तु। यहाँ मैं निराला जी की, सार्थक शब्दों का चरितार्थ प्रयोग करनेवाली अन्तर्दृष्टि के कुछ नमूने पेश कर रहा हूँ। सहृदय पाठक देखें, उन शब्दों से भावों को कितना उत्कर्ष, कितना प्रकर्ष प्राप्त हुआ है!

१—"सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर पथ से चली।"

—'सन्ध्या कुमारी'

२—"डोलती नाव, प्रखर है धार,
सँभालो जीवन-खेवन-हार।"

—'खेवा'

३—"ऐ त्रिलोकजित् इन्द्र-धनुर्धर"

४—"आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।"

—'बादल'

५—"क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं ?—कौन हैं ?"

—'नयन'

इत्यादि। पहले पद्य में 'नीरवता की सखी' शब्द 'सन्ध्या-कुमारी' की प्रशान्त प्रकृति व्यक्त कर रहा है और 'कुमारीत्व' भी। महत्कुल (बल्कि स्वर्गलोग) की बालिका होने के कारण वह प्रकृति से गम्भीर है, तभी उसने 'शान्ति' को सखी बनाया है! और फिर चूँकि कुमारी है, उसे किसी सखी की भी जरूर जरूरत हुई।

'कन्धे पर डाले बाँह' कहने से उसका 'नवयौवनात्व' प्रतीत होता है। तभी तो वह सखी के कन्धे से कन्धा जोड़े, लिपटी-लिपटी-सी चल रही है, और, तभी तो उसमें शैशव-सुलभ चपलता की अपेक्षा गाम्भीर्य्य गरिमा ही अधिक है। 'छाँह-सी' कहने से यह ज्ञात होता है कि वह कितनी तन्वङ्गी तथा सुकुमार है! एक कुमारी के लिए सुकुमारी होना सहज स्वाभाविक है। इसीलिए वह अकेली चल भी तो नहीं रही, सखी के कन्धे पर बाँह डाले हुए है!

'अम्बर-पथ से चली' से उसका 'परी' होना प्रतीत होता है। जिस रीति से वह आसमान से उतर रही है, वह मानुषी हो ही नहीं सकती। फिर 'अम्बर-पथ' शब्द उसके चरणों—तलवों की कोमलता भी बतलाता है। वह जैसे सूखी जमीन पर चलने के लायक नहीं, सिर्फ अम्बर-पथ से ही चल सकती है। एक बात और। आकाश का पर्य्यायवाची कोई भी अन्य शब्द यहाँ उतना नहीं फब सकता, जितना 'अम्बर' शब्द। ऐसा लगता है, जैसे वह धुनी-रुई-वाले, सफेद, मुलायम गलीचेदार (अम्बर) रास्ते से चली है।

'गीतिका' के

"अम्बर-पथ से मन्थर सन्ध्या श्यामा
उतर रही पृथ्वी पर कोमल-पद भार."

में भी इसी भाव की रक्षा की गई है। इसी प्रकार **'रे कुछ न हुआ तो क्या'** वाले गीत में—

"सब छाया से छाया,
नभ नीला दिखलाया"

कह कर 'नभ' शब्द की कीमत जाहिर की गई है। वहाँ पर अम्बर या व्योम शब्द सुपयुक्त नहीं हो सकता था। कारण, 'नभ' ऐसा श्रीहीन मालूम पड़ता है, जैसे सचमुच ही उसकी चमक (भा) छीन ली गई हो। इसीलिए तो वह नीला-नीला दिखलाई पड़ता है!

दूसरे में—**'जीवन-खेवन-हार'** का जीवन शब्द इतना अधिक जीवन रखता है कि कोई भी दूसरा प्रतिशब्द उसका मुकाबला नहीं कर सकता। इसी प्रकार 'गीतिका' के -

"गर्जित जीवन - झरना
उद्देश्य—पार पथ करना"

या 'अनामिका' के—

"पथ पर मेरा जीवन भर दो,
बादल हे अनन्त अम्बर के,
बरस सलिल गति ऊर्म्मिल कर दो!"

मे 'जीवन' का सजीव सुप्रयोग किया गया है। इसे 'श्लेषालङ्कार' मात्र कह कर नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि यह तो हृदय मे आश्लेष करने वाला साक्षात् जीवन (प्राण) है, बाहरी चटक-मटक के लिए अलङ्कार मात्र नहीं।

तीसरे और चौथे में—बादल पर अर्जुन का सुरूप रूपक खड़ा कर **"त्रिलोकजित इन्द्र धनुर्धर"** विशेषण दिया गया है। कवि कहना चाहता है कि अर्जुन ने कठिन तपस्या के बाद त्रिलोक-विजयी इन्द्र का धनुष प्राप्त कर अब श्यामा (द्रौपदी) के अधरो की प्यास मिटाने के लिए लौटा आ रहा है।

यह वही श्यामा है जो उसके प्रस्थान के समय खुल कर रो भी न सकी थी, आँसुओं को अमङ्गल की निशानी समझ रही थी। और यह वही श्यामा है जिसकी एक चितवन को, आँसुओ की मुसकान से गीली चितवन को अर्जुन पाथेय की तरह लेकर चला था।

[कवि भारवि ने उस समय की कैसी साफ तसवीर दी है—

"तुषार-लेखाकुलितोत्पलाभे (पङ्कज-कोष ओस-कन जसे)
पर्यश्रुणी मङ्गल-भङ्ग-भीरुः
अगूढ-भावाऽपि विलोकने सा
न लोचने मीलयितुं विषेहे
अकृत्रिम-प्रेमरसाभिरामं
रामार्पितं दृष्टि-विलोभि दृष्टम्,
मनः प्रसादाञ्जलिना निकामं
जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ।]

रूपक भी बादल पर है, जो सचमुच इन्द्र-धनुष धारण किए हुए है, सचमुच ही जो श्यामा (पृथ्वी) की प्यास मिटाने के लिए आया है। और "श्यामा" से भी ज्यादा फबीला तो यहाँ "प्यास" है, जो प्राकृतिक सत्य की हैसियत से भी वस्तुतः पानी लिए हुए के प्रति है।

और पाँचवे में—"कौन हैं" शब्द का मूल्य कौन दे सकता है? पथिक से नयन कहना चाहते हैं कि अगर वे (जिनके लिए वह ग्रीष्म, वर्षा, शीत के दिन गिनते रहे हैं,) कुसुम सुकुमार नहीं, तो पत्थर-दिल जरूर होंगे? पर वह ऐसा कहें कैसे, कितनी जबर्दस्त ममता है उन पर! इसी सुन्दर, सुगभीर भाव को कवि "कौन हैं" कहकर बतला रहा है। इसी प्रकार—

"सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः।"

में "किमपि" शब्द के द्वारा बहुमूल्य भाव की स्फूर्ति हुई है।

जब उदयन को यह कहा गया कि पद्मावती का पाणिग्रहण किए बिना उन्हें उनकी प्रियतमा वासवदत्ता नहीं मिलने की, तब उसे पाने की, आकुल उत्कण्ठा ही से जैसे उन्होंने व्याह के वचन दे दिए। पर वासवदत्ता के प्रति अपने खुले दिल के उमड़ते हुए प्यार की सुध आते ही वह हैरान हो गए। सोचने लगे, नए व्याह के लिए झटपट हामी भरकर उन्होंने

प्यार की कैसी सच्ची पहचान बताई ! ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व के समय उन्होंने उपर्युक्त पंक्ति कही है—"प्रिय ! तुम्हारे परम प्रेम का दम्भ करनेवाला मैं आज कुछ ('किमपि' जो महापाप से भी बढ़कर होने के सबब जैसे जबान पर लाने के लायक नहीं) और ही करने को उतारू हो गया हूँ ।"

जो हृदय की वेदना बहुत-बहुत भावों से भी नहीं व्यक्त हो सकती थी, उसे ही सुप्रयुक्त एक शब्द—'किमपि' सुस्पष्ट कर रहा है । इस कला का नाम कुन्तक ने 'संवृतिवक्रता' बतलाया है । "कौन हैं" में भी निश्चय ही इसी का प्रदर्शन हुआ है ।

'प्रसाद' जी का एक प्रशंसित गीत है :—

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर-पनघट पर डुबा रही
तारा-घट ऊषा नागरी ।"

इसमें सुखद पदों का कोमल कलरव है । 'ऊषा नागरी' का गगन के पनघट पर तारा रूपी घट डुबाना कमाल का चित्र है । फिर 'भैरव' राग का यह मधुर रूप भी कम प्रशंसनीय नहीं । पर जहाँ तक उपर्युक्त अन्वर्थ-शब्द-प्रयोग की कला का सम्बन्ध है, यह उस सुषमा से वञ्चित ही है । कारण, 'विभावरी' 'अम्बर' आदि शब्द सार्थक नहीं, केवल उच्चारण संगीत की संगति के लिए आए हुए हैं । इसके साथ निराला जी का एक गीत देखें —

"यामिनी जागी
अलस पङ्कज-दृग अरुण,
मुख तरुण अनुरागी ।"

इसमें शब्द-संगीत तो प्रीत करने वाला है ही, अर्थ-गाम्भीर्य्य भी वरेण्य है । एक शब्द है 'यामिनी' । इसका अर्थ होता है प्रहरोंवाली । बताया जा रहा है कि उसे (प्रेयसी को) 'वह' रात जगकर बितानी पड़ी है, जिसके प्रहर-प्रहर पहाड़ हो रहे थे । अब प्रातःकाल उसके पङ्कज-दृग अरुण

तथा अलस हो रहे हैं, जिनमें प्रिय (तरुण) के मुख-दर्शन का अनुराग भरा हुआ है।

एक तो वे रात भर (जिसके प्रति प्रहर पर उसका ध्यान रहा है। यह प्रहर भी क्षण-क्षण, पल पल का उपलक्षण मात्र है।) जगने के कारण लाल थे ही, फिर उनमे प्रिय का राग भी भरा है, जैसे इसलिए उनकी ललाई और गाढ़ी हो गई है !

इसके अतिरिक्त रूपक मे स्वाभाविक सत्य है। रात बिताने के बाद प्रातःकाल पंकज अरुण (सूर्य) के तरुण-मुख के अनुरागी होते ही है।

दूसरा शब्द है 'पङ्कज'। यह इङ्गित करता है कि इस समय उसकी आँखें 'अरविन्द' या 'इन्दीवर' नही, 'पङ्कज' हो रही है। वह वाष्प-कलुषित या अश्रु-पङ्किल होने के कारण कमल की नही, पङ्कज की प्रभावाली दीख रही है। क्या 'अरविन्द' या 'इन्दीवर' इस भाव को व्यक्त कर सकता था ?

तीसरा शब्द 'अरुण' और चौथा 'अनुरागी' है। यहाँ 'रक्त' या 'प्रेमी' कहने से जो विद्रूपता आती, वह कल्पनैकगम्य है।

इस प्रकार सार्थक शब्दो की उज्ज्वल तूलिका से काव्य-भावना की जो तसवीर तैयार होती है, उसे झटपट देख लेने या over look करने से कैसे काम चल सकता है !

सोने का पानी या रंगीनी देखकर खरीदी जानेवाली तसवीर नन्दलाल बोस या अवनीन्द्रनाथ के धुँधले-मटमैले पेंसिल स्केच से मुकाबला करने की चीज नही। पजनेस और निराला की तुलना कैसी गजब की सूझ है !

(४)

निरालाजी ने सभी रसों मे कविताएँ लिखी है, और सर्वत्र रसानुसारिणी भाषा का प्रयोग कर यह अच्छी तरह दरसा दिया है कि शब्द-संकलन-कला में वह अपना सानी नहीं रखते। जहाँ भाषा का ओज

भावों की तेजस्विता का व्यञ्जक नहीं, वहाँ भरसक उन्होंने उन्मद पदों का प्रयोग नहीं किया। समस्त-शब्दों द्वारा ओजः-सृष्टि करने की रूढ़ि के भी वह कायल नहीं हैं। कवि की आन्तरिक शक्ति के बिना पदों में विद्युद् गति आ नहीं सकती। निरालाजी कोष के जकड़े शब्दों को अपनी शान से शान चढ़ा, जगमगा कर प्रयोग में लाए हैं। इसीलिए उनके समस्त और असमस्त—दोनों प्रकार के पद अपने सहज ओजस्वी स्वरूप में दीख पड़ते हैं।

समस्त पद—

राघव-लाघव,—रावण-वारण,—गत-युग्म-प्रहर
उद्धत लङ्कापति-मर्दित-कपि-दलबल-विस्तर

असमस्त-पद-

लौटे युग दल, राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल

—राम की शक्ति पूजा

भयानक चित्र में, दिशाकाश को कँपाते हुए ओजस्वी शब्दों का यह 'स्टेंजा' भी कितना उज्ज्वल, कितना उदात्त उतरा है!—

"मोगल-दल-बल के जलद यान
दर्पित-पद उन्मद नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर खर तर
छाया ऊपर घन अन्धकार
टूटता वज्र दह दुर्निवार
नीचे प्लावन की प्रलय-धार ध्वनि हर-हर।"

—तुलसीदास

इसमें तुलसीदास के समय की भारतवर्ष की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन है—चढ़ी हुई मोगलों की सेना बादल की तरह है; जमीन पर पठान लोग जैसे दर्प से बहते हुए नद हैं। वे ऐसी तीर-जैसी प्रखरतर

गाते से यहाँ के लोगों के दिशा और देश के ज्ञान को बहा रहे हैं। इस प्रकार ऊपर गहरा अँधेरा छाया हुआ है और न रोका जानेवाला वज्र टूटता है, नीचे (पठानों द्वारा) बाढ़ की प्रलय की धारा बह रही है, 'हर-हर' (हरण कर, हरण कर) की ध्वनि आ रही है।

निराला के अलावा इस युग का और कौनसा कवि हिन्दी-कविता की आत्मा ही नहीं, अङ्गयष्टि को भी इतना प्रौढ़ तथा सबल बना सका है?

भावों का तारतम्य

भावों का अनिन्द्य सौन्दर्य्य, आन्तरिक उल्लास झङ्कृतिपूर्ण सुललित शब्दों को सफल बना सकता है। यदि रमणीयता शब्दों ही भर में रही, भाव उनके आनुपातिक न हुए तो उस काव्य की तुलना उस वाचाल व्यक्ति से की जा सकती है, जो बोलता तो खूब है, पर करता कुछ भी नहीं। यानी गरजता भर है, बरसता कभी नहीं, शरत्काल के बादल-सा है। सुन्दर से सुन्दर भावों को प्रकट करने के लिए सुन्दर से सुन्दर शब्द उपकरणमात्र हैं। शब्दों की यहीं तक वास्तविक प्रशंसा है, यहीं तक सफलता है। हम सुन्दर शब्दों के द्वारा सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति पसन्द करते हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि हमारा लक्ष्य भावों का सुनना ही होता है।

"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।" किन्तु आकृतिमात्र को 'गुणाः' रूप से ग्रहण करना ठीक नहीं। इसीलिए आचार्यों ने कहा है — 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' निरालाजी का वर्ण-विन्यास जितना सफल-निर्मल है, भावों का तारतम्य भी उतना ही सजल।

अगर ऊँची उड़ान लेनेवाला ही कवि कहलाता तो घुग्घू वगैरह को कवित्व के दायरे के चारों ओर मँडलाने के लिए छोड़, चील वगैरह पंछी कभी से महाकवि पद पर प्रतिष्ठित होते। और यदि सुदूरदर्शिता ही काव्य-कला का मापक-यन्त्र होती तो निःसन्देह जटायु के वंशज

सर्वश्रेष्ठ कलाकार सिद्ध होते। मतलब यह कि चिड़ियों से बढ़कर जल-चर या थलचर कभी कवि होने का दावा नहीं कर सकते, विशेषतः 'छायावाद' का सवाल सामने आने पर; क्योंकि विहग-वृन्द अनादि काल से 'अनन्त-पथ-पथिक' होने की सचाई पेश कर सकते हैं। तो क्या कवित्व का सारा रहस्य इसी चिड़िया होने में है ?

आर्य्य-समाजी और आर्य्य-धर्म्मियों में यह विवाद कभी नहीं होता कि वे दोनों वेदों के अनुगामी नहीं हैं। पर सब के अनन्तर उनमें इतना अन्तर अवश्य रह जाता है कि एक ही मंत्र पर वे दोनों अलग-अलग राग अलापते हैं। वह भी शङ्कर या रामानुज की भाँति नहीं, सूर या कबीर की अपार भक्ति और ज्ञान-धार की पारदर्शिता के समान भी नहीं, महज ढोल और ढोलक की तरह। इनमें कौन अर्थ और कौन अनर्थ करता है यह कहना खतरे से खाली नहीं। हाँ, तो चील ने ऊँची उड़ान लेने के बाद आज तक कौन सा विश्वजनीन सन्देश विश्व को सुनाया, या विश्व उससे निकट भविष्यत् में सुनने की आशा रखता है, यही समझना होगा; और जटायुवंशी दूरतर प्रदेश से किस वस्तु का निरीक्षण करता है, इसका भी निरीक्षण करना होगा। उत्पतन और दर्शन की इसी विभिन्नता ने एक को पंछी और दूसरे को कलाकार बनाया है। यों भी कल्पना की आँखें और उसके पर अबतक नहीं नजर आए, पर उसकी ऊँची उड़ान को सूक्ष्म-दृष्टि वालों ने निहाल हो-होकर देखा है। मतलब यह कि केवल उड़ान भरने या अणु-वीक्षण-यन्त्र को मात करनेवाली करामाती पोखोंवाली आँखों की बदौलत कोई चिड़िया तो आसानी से बन सकता है पर कवि हर्गिज नहीं। और उत्पतन या दृष्टि की उपयुक्त शक्ति के अनुपात से प्राप्त प्रौढ़ि का प्रकर्ष मनुष्य को विद्वान्, अधिक से अधिक कवि भी बना दे सकता है, पर महाकवि नहीं; महाविद्वान् भी नहीं, कारण, देखकर लिखी चीजें चाहे जितनी खूबसूरत हों; तोते की टें-टें वाली विद्वत्ता चाहे जितनी भी व्यापक हो,

वह जीवित कदापि नहीं। जीवन तथा प्रकृति के बाह्य और अन्तर सौन्दर्य्य की अनुभूतियाँ वास्तविक विद्वता की विभूतियाँ हैं। फलतः एक महाकवि के लिए कल्पनाएँ, अनुभूतियाँ—और उनके औचित्य-अनौचित्य, उपादेयता-अनुपादयता आदि का संयम, विवेक, विभेद करनेवाली प्रयोगोन्मुखी विद्वता -- सब अपेक्षित हैं। मैं जानता हूँ कि इन तीनों गुणों का सामाञ्जस्यपूर्ण समिश्रण (Harmonious Combination) बहुत कम देखने को मिलता है। कालिदास की उक्ति है कि गुण-राशि के एकत्र राशिकरण में विधाता की कृपणता विख्यात है -'**प्रायण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।**' पर यह विचार भी तो सर्व-वादि-सम्मत है कि महाकवि होना सर्व-सुलभ नहीं। "**येनास्मिन्नति-विचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।**" इसिलिये राशि-राशि कवियों के बीच भी दो ही चार, कालिदास आदि, महाकवि कहे जाते हैं।

आज हिन्दी के असंख्य नवीन कवियों में जो दो-चार महाकवि कहलाने के योग्य हैं, उनमें निरालाजी का उच्चतम स्थान है। इनकी कविताओं में अलौकिक कल्पना, प्रगाढ़ अनुभूति तथा प्रौढ़ विद्वता प्राप्त होती है। काव्य के तीन समुदित हेतु 'प्रतिभा', 'लोक' शास्त्र तथा प्राचीन काव्यों के अनुशीलन से प्राप्त निपुणता,' और 'अभ्यास'— इनके माननीय काव्यों में प्रत्यक्ष प्राप्त होते है।

हृदय तथा मस्तिष्क—क्रमशः काव्य और विज्ञान का उद्गम-क्षेत्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में विचार-प्रधान प्रत्येक शास्त्र को मस्तिष्क तथा अनभूति-प्रधान केवल काव्य-साहित्त को हृदय कहने की परिपाटी चल पड़ी हैं। पर मेरा खयाल है कि ऐसा कहना किसी भावुक व्यक्ति का भावुकता के प्रति ललित उद्गार मात्र है। अवश्य रस मानस-गोचर होने के कारण काव्य की आत्मा की हैसियत से काव्य को भी हृदय की वस्तु बना देता है, पर जिस सामग्री से रस का प्ररिपाक होता है,

उसका सङ्कलन तो बिना बुद्धि का सहारा लिए, बिना मस्तिष्क को सम्मान दिए, होने योग्य नहीं। इसलिए यद्यपि काव्य सरस गुलाब के फूलों का हृदयहारी हार है; कलाकार का उद्देश्य यद्यपि फूलों ही का गुम्फन करना है, किन्तु तथापि गुलाब के फूलों का सञ्चय कँटीली डार से होने के कारण कोमल उँगलियों को क्षत-विक्षत करना ही होगा। शुष्क कह कर उपेक्षित-बुद्धि या मस्तिष्क को बाद देने पर भावुकता प्रलाप का अपर पर्य्याय हो जयगी। **त्रिकाल-दर्शिनी बुद्धिः।** वर्त्तमान के साथ ही अतीत तथा अनागत को देखने की शक्ति बुद्धि में है। अतएव कवि को '**क्रान्तदर्शी**' कहा जाता है। '**कवयः क्रान्तदर्शिनः**'। 'क्रान्त' का अर्थ दृष्टि से अतिक्रान्त, आँखों से ओझल वस्तुजात है, जिसे कवि देखता है। निश्चय ही यह बात बुद्धि, मस्तिष्क या कल्पना ही से साध्य है। शकुन्तला-नाटक के सप्तम अङ्क में कालिदास ने विमान द्वारा स्वर्ग से उतरते हुए दुष्यन्त का चित्रण किया है। **"शैलानामव-रोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी' इत्यादि।"** क्या उन्होंने विमान पर चढ़कर इसका अनुभव किया था? "कदापि नहीं। किन्तु आज कोई विमान पर चढ़कर उस चित्रण की सचाई का अंदाज लगा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कला-पक्ष में केवल भावुकता से काम नहीं चल सकता। शेक्सपियर की कला-कृतियाँ कल्पना शक्ति की प्रबलता पर सुस्थित हैं। मिल्टन का "पैराडाइज लॉस्ट" प्रौढ़ कल्पना-शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। संस्कृत के सफल काव्य नाटक तीन-चौथाई कल्पना, मस्तिष्क या बुद्धि तथा एक हिस्सा हृदय मिलाकर निर्मित हुए हैं। आज के कुछ उच्छृङ्खल भावुकता-वादी चाहे अपने को कालिदास, शेक्सपियर, मिल्टन, रवीन्द्रनाथ सब से बढ़कर समझें—पर उनकी समझ वास्तविकता से कोई वास्ता रखती नहीं मालूम पड़ती। अस्तु। निराला जी ने बुद्धि और हृदय—दोनों को समान रूप से सम्मानित किया है। कहना न होगा, इसीलिए उनका काव्य, स्थिर

तथा गम्भीर हुआ है। मैं यहाँ उनके कुछ भावों का संक्षिप्त परिचय दूंगा।

(क) "अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अञ्चल को करता है छन-छन,
कुसुम कपोलों पर वे लोल शिशिर कण!
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो!"

—परिमल

कवि कहता है—अन्धकार में मेरे आँसू पृथ्वी के श्यामल अञ्चल को प्रतिपल सिक्त करते रहते हैं। उसके (पृथ्वी के) कपोल-कुसुमों पर वही तो चपल ओस-कण बन कर झलमल करते हैं! किन्तु तुम अपनी किरणों (कर) से आँसुओं को पोंछने और जीवन में नवल प्रभात ला देते हो।

दुःख निशा के अन्धकार में जब कवि रोता है—तो उसका रोदन किसी कोने में छुपकर नहीं होता, उससे समस्त प्रकृति सिक्त हो उठती है। (Personified) पृथ्वी का नीला आँचल, पृथ्वी के खिलखिले गालों - फूले फूलों पर काँपते हुए ओस के बूँद, उसी के आँसुओं के कण हैं तो! (१) अर्थात् कवि के आँसू किसी व्यक्ति के आँसू नहीं - समस्त विश्व-प्रकृति के प्रतिनिधि आँसू हैं। उसके आँसुओं से अशेष पृथ्वी के उर-नयन भीगे हुए हैं। (२) अर्थात् कवि का दुख अपना दुख नहीं, उसके अन्तर में समाए हुए सम्पूर्ण जगत् का दुख है, इसीलिए उसके आँसू पुँछते ही पृथ्वी के आँसू पुँछ जाते हैं, वह प्रकाश में विहँस उठती है; इसीलिए उसके जीवन में नव-जीवन आते ही समस्त संसार में स्वर्णिम प्रभात फैल जाता है। (३) अर्थात् कवि के आँसू भी व्यर्थ नहीं बहते, उससे सारा संसार सिक्त होता है; सहानुभूति पाता है, संवेदनशील बनता है, नहीं तो वह महज मिट्टी-पत्थर ही का रह जाता।

हाँ, वह 'रात' के 'अन्धकार' में रोता है, विश्व में अपने अश्रुओं का प्रदर्शन करने के लिए प्रभात की प्रभा में नहीं। उस समय—पृथ्वी पर स्वर्गीय सजल प्रभात के उतरते ही तो वह भी फूलों में खिलखिलाने लग-जाता है।

कैसा आदर्श आशावाद! ईश्वर पर आस्था रखकर यह अश्रु-सिक्त उच्छ्वास! फिर प्राकृतिक वैज्ञानिक सत्य भी, रात के अँधियाले में ओस का गिरना, सुबह सूरज की किरनों से पुँछ जाना! साथ ही अश्रु की विश्वजनीनता को विशद करने के लिए सुप्रयुक्त 'धरा' में आँचल, कपोल के सिंचन द्वारा कैसा सर्वाङ्ग-सुन्दर चित्र!

(ख) "दे मैं करूँ वरण!
जननि! दुःख-हरण पद-राग-रञ्जित मरण!
लांछना इंधन, हृदय-तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल,
पार कर जीवन-प्रलोभन-समुपकरण;
प्राण-सङ्घात के सिन्धु के तीर मैं—
गिनता रहूँगा न कितने तरङ्ग हैं!
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण।
दे मैं करूँ वरण।"

—'गीतिका'

मा, सकल दुःख-द्वन्द्वों को मेटनेवाला, अपने चरण-राग से रञ्जित मरण मुझे दो, मैं उसे वरण करूँ! मै उसी मरण को वरण करूँगा जो तुम्हारे अरुण-चरणों के रग मे रँगा हुआ होगा।

मेरे हृदय तल में जलते हुए अनल के लिए लाँछनाएँ इंधन हों। मैं अपनी ही आग में अपने सकल कलङ्क-कल्मषों को जलाकर खाक कर सकूँ। मेरे नयन विनय-नत रहें, और मैं जीवन के प्रलोभनो को पार करता हुआ, सबल होकर निरन्तर सत्य-पथ से चलता रहूँ।

प्राण-सङ्घात के सिन्धु के किनारे पहुँच कर मैं लहरें नहीं गिनने लगूँगा, मै तो धीर-समीर के समान उसे अनायास ही तैर कर पार कर लूँगा - मां, तुम मुझे अपने चरणों के रंग में रँगा हुआ मरण वरण करने के लिए दो।

भक्ति-वेदना-विकल इस गीत के प्रत्येक पद की सार्थकता, पद और भाव का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध-सौन्दर्य्य आत्म निरीक्षण की वस्तु है। गीताञ्जलि के किसी भी श्रेष्ठ गीत के साथ तुलना करने पर यह लघु न होगा।

(ग) **"सुमन भर न लिये सखि, वसन्त गया।"**

***　　*　　*　　***

विवश नयनोन्मादवश हँस कर नकी
देखती ही देखती री मैं थकी
अलस पग, मग में ठगी-सी रह गई
मुकुल-व्याकुल-श्री सुरभि वह कह गई
—सुमन भर न लिये सखि, वसन्त गया!"

—'परिमल'

'सखि, वसन्त बीत गया, पर तूने फूल तो चुने ही नहीं!" कितना द्रावक है! एक 'भर' शब्द के द्वारा कवि उसकी कितनी भारी भूल की ओर इशारा करता है,—जहाँ उसे न केवल फूल चुनने थे, किन्तु उन्हें भर-भर कर रखना था (कितनी आकुलता का अभिव्यञ्जन है!) वहाँ उसने जबर्दस्त चूक की। आँखों के नशे मे पागल हो हँसती-हँसती बहार का जलूस ही देखती-देखती अलसा उठी, थक गई। और तब तक, जब तक उसके पैरों में थकान रही, वह खोई हुई की तरह अकचका कर रास्ते में खड़ी ही रही कि कलियों की नाजुक खूबसूरती, तेज खुशबू यह कहती हुई बह गई, गुजर गई—"री सखी! अब वसन्त तो बीत गया, पर तू ने कुछ भी फूल न चुने।"

यह ऐसा पछतावा हमलोगों के जीवन के कितना अधिक निकट है, भला हम यह कैसे न कहें कि जीवन का अतिशय सन्निकर्ष पाकर ही कोई ऐसी पंक्तियाँ लिख सकता है।

रवीन्द्रनाथ के "भैरवी गान" के भावुक नायक ने भी इसी प्रकार अपना अविकच, आकुल उद्गार प्रकट किया है—

"शेषे देखिब, पड़िल सुख-यौवन फूलेर मतन खसिया
हाय वसन्त वायु मिछे चले गेल श्वसिया,
सेइ ये खाने जगत् छिल एक काले
सेइखाने आछे बसिया।"

अर्थात्—फिर अन्त में देखूँगा कि मेरा ही सुखद यौवन फूल की तरह चू पड़ा; झर गया, वसन्त-समीर व्यर्थ ही उच्छ्वास छोड़ता हुआ चला गया, और तब भी संसार ज्यों का त्यों अपनी जगह पर मौजूद है।

किन्तु उसके ऐसे चिंतन में Mental conflect से अधिक उपर्युक्त सखी की-सी सखेद वेदना की मार्मिकता नहीं है।

(घ) "सखि, वसन्त आया।

किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर-प्रिय-उर तरु-पतिका
मधुप-वृन्द वंदी, पिक-स्वर नभ सरसाया
सखि वसन्त आया।"

—'गीतिका'

री सखी, देखो न, वसन्त आ गया! कोंपलों की गुलाबी सारी पहनकर, नवयौवना लतिका अपने प्रिय पति तरु की छाती से लिपट गई (यह जैसे राजा-रानी का वैवाहिक प्रणय-मिलन हुआ, इसीलिए—) झुंड के झुंड भौंरे—ये वन्दी-जन गान करने लगे! और इतना ही क्यों? वन के राजा-रानी का यह मङ्गलमय विवाह केवल भूतल ही में उत्साह फैलानेवाला नहीं, देखो न, स्वर्ग में भी कितना सजीव उल्लास छाया हुआ है।

आसमान में कोयल की मतवाली पञ्चम तान उसी स्वर्गीय आनन्द-गान का प्रतीक है तो!

कितना मधुर तथा मनोहर भाव-चित्रण है यह! संस्कृत-साहित्य में इस आशय के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में लिखा है—

"नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता
करम्बिताङ्गी मकरन्दसीकरैः
दृशा नृपेण स्मित-शोभि-कुड्मला
दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे।"

अर्थात्—नई उम्रवाली लता मलयानिल (किन्तु यहाँ 'गन्धवह' शब्द उसकी विलासिता, व्यसन-प्रियता व्यक्त कर रहा है, मतलब कि वह खुशबू का शौकीन है, खूब इत्र वगैरह लगाए है) से चूमी जाने पर पसीने-पसीने हो गई है। ये मकरन्द-बिन्दु पसीने ही की पहचान है। कलियों में मुसकिराने वाली है वह, और रागावेश से मानो जरा झूम भी रही है। राजा नल की आँखें उसे भय और प्रेम दोनों प्रकार से निहारती रहीं।

कालिदास का भी एक सरस पद्य है—

"पर्य्याप्त-पुष्प-स्तवक-स्तनाभ्यः
स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापु
विनम्रशाखा-भुज-बन्धनानि।"

—कुमारसम्भव

फूलों के गुच्छे जिनके नवोदित स्तन हैं, मन्द-मन्द हिलते हुए लाल पल्लव ही फड़कते हुए होंठ,—ऐसी रूपसी बहुओं-सी बाल वल्लरियों का आलिङ्गन (झुकी डालों की भुजाओं का बन्धन) पेड़ों ने पाया।

इन दोनों संस्कृत-पद्यों से, भावों की गरिमा की दृष्टि से, 'गीतिका' का गीत सुन्दर है। कालिदास ने लता के स्तन, होंठ और बाजुओं का

जैसा वर्णन किया है—उसे स्थूल चित्र ही कहा जा सकता है। श्रीहर्ष का चित्रण उससे अधिक सूक्ष्म, सुन्दर एवं सुकोमल है। **'मकरन्द-सीकरैः करम्बिता'** और 'दरकम्पिनी' में छवि की बारीकी देखने ही बनती है। किन्तु गीतिका की 'नव-वय-लतिका' अतिनवीन है। उसकी गुलाबी साड़ी में जितनी चमक है, उतनी ही तरु को पति-रूप से वरण करने में उसकी भाव-स्वच्छ पवित्रता, सादगी। श्रीहर्ष की लता वारवनिता-सी जैसे अपनी छवि-छटा की छुरी से आप ही घायल है पर यह ललित लतिका अपने मङ्गलमय वैवाहिक गान-वाद्यों से जैसे जमीन और आसमान दोनों को गुञ्जित कर रही है; स्वर्ग और पृथ्वी दोनों में उल्लास फैला रही है।

(ङ) "खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी, तड़ित-द्युति ने क्षमा माँगी,
यामिनी जागी।"

कवि कहता है कि उसके केशों की अशेष छवि का भला कौन बखान करता, जो गुच्छ के गुच्छ खुल-खुल कर उसकी पीठ गर्दन, छाती और बाजुओं पर तैरते-से (floating hair) दीख पड़ते थे (अङ्गों का कैसा सजल सौन्दर्य, पिच्छिल छवि ध्वनित होती है!) और उनके बीच में उसका गोरा-गोरा चमचम चमकता मुखड़ा, ऐसा मालूम पड़ता था, जैसे श्यामल बादलों की राशि सूरज को घेर रही हो। वह तो जैसे ज्योति ही की बनी हुई थी, तभी तो बिजली की छन पर चमक उठने वाली रोशनी ने उससे माफी माँग ली थी। वह उसका क्या मुकाबला करती?

संस्कृत के एक कवि ने—

"तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ"

अर्थात् "अपने ही उच्छल, उज्ज्वल लावण्य के लहराते हुए समुद्र में उसके अंग-अंग तैरते-से लगते है" लिखकर 'पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु उर पर तिर

रहे'—ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की है।

रवीन्द्रनाथ के—

"अङ्ग-अङ्ग यौवनेर तरङ्ग उच्छल
लावण्येर माया-मन्त्रे स्थिर, अचञ्चल"

—विजयिनी

में संस्कृत-पद्य से भी ज्यादा बारीकी और गहराई है। संस्कृत की सुन्दरी के अंग-अंग अपने 'लावण्य-जलधि' की तरंगों पर तैरते हैं, तो रवीन्द्र की रूपसी के अंग-अंग में यौवन ही तरंगित हो रहा है, वह स्वयं तो सौन्दर्य के जादू से जैसे हिलती-डोलती तक नहीं,—अजान-सी उस चपल रहस्य के पहचानने में ध्यान-मग्न हो गई है। इधर निराला जी ने भी इतनी ही सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं—

"घेर अङ्ग-अङ्ग को
लहरी तरङ्ग वह प्रथम तारुण्य की!"

—प्रेयसी

(च) "चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम?"
"किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछतीं वे दृग-नीर?"

—यमुना

(छ) "हम अगर बहते मिले
क्या कहोगी भी कि हाँ पहचानते
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन
मगन बह जावगे पल में—
परम प्रिय सँग अतल जल में।"

—निवेदन

(ज) किसके स्वर से आज मिला दोगी वर्षों का गान?

आज तुम्हारा किस विशाल वक्षःस्थल में अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी
फिर न हाय ! तुम गाओगी ।"

—तरङ्गों के प्रति

(झ) "नीड़स्थ पक्षी की तम-विभावरी गई,
विस्तृत अनन्त पथ गगन का मुक्त हुआ,
मुक्त-पंख उज्ज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही !
स्थिर मैं आनन्द में चिर-काल जाल-मुक्त
ज्ञानम्बुधि वीचि-रहित ।"

— 'जागरण'

(ञ) "सुमन चुने जाने के ज्यों भय
भीरु थर-थराते तरु-किसलय"

❀ ❀ ❀ ❀

"मेरा दुख अरण्य, किसलय दल···
ज्वाल, जली काली तुम कोयल
दैन्य-डाल पर बैठी प्रतिपल
सुना रही हो तान !"

❀ ❀ ❀ ❀

"खो न जाय वह चपल बाल-गति
डरती हुई चली यौवन-प्रति ।"

❀ ❀ ❀ ❀

'दीपित दीप-प्रकाश, कञ्ज-छवि
मञ्जु-मञ्जु हँस खोली ।"

— 'गीतिका'

(च) इस पद्य में कवि 'यमुना' से पूछता है कि—"बता, वह वृन्दावन क्या हुआ, जहाँ तेरे पनघट पर कभी अगणित गोप-गोपियों के चञ्चल चरण दीख पड़ते थे?" पर इस भाव की स्फुरणा इतनी ही ऋजु-रीति से नहीं हो रही, कवि ने 'चल चरणों का व्याकुल पनघट' कह कर इसमें 'कुछ और' जोड़ दिया है। अर्थात् उस जड़ पनघट मे तब इतनी चेतन सरसता आ गई थी कि वह उन चरणों की प्राप्ति का जैसे स्वय अभ्यासी हो गया था; उन सुकुमार चरणों की स्पर्श-सुषमा का स्वय आनन्द लूट लेता था, तभी तो वह उसके लिए व्याकुल था। 'पनघट' की ऐसी व्याकुलता सहृदयो को सचमुच ही शान्ति प्रदान करने वाली है।

यह भी कवि की 'यमुना' ही के प्रति उक्ति है। "ऐ यमुने! जिन गोप-बालाओं को कभी यहाँ श्याम के विरह में तड़पते देखा था; जलते देखा था, आज वे कहाँ बैठ कर आँचल में आँसू पोछ रही हैं?" यहाँ उक्त पूर्व से भी बढ कर अपूर्व भाव-भङ्गी है। कवि कहता है, वे ग्वालिनें किस विनोद की प्यासी गोद में (अर्थात् जो गोद आश्लेषादिजन्य आनन्द की पिपासा लिए हुए थी; जिसे सिर्फ हँसी-खुशी, राग-रंग ही पसंद था) आँखो का नीर पोंछ रही हैं!' यह जैसे उसकी प्यास मिटाने का करुणापूर्ण प्रयत्न है! जब कि श्याम के विरह-ताप से सारा शरीर ही तप्त हो रहा था, गोद का प्यासा होना कितना नैसर्गिक, सुकुमार तथा कलापूर्ण है, फिर आँसुओं से उसकी प्यास बुझाना तो और भी अधिक चमत्कारकारी या touching है।

(छ) प्रेमी, जिसकी प्रेमिका प्रेमिकामात्र है, अपनी नही, कल ही किसी दूसरे की भी हो सकनेवाली, उससे कहता है कि—"कुछ दिनो के बाद, जब हम दोनों की जीवनधारा समय-समीर से आन्दोलित होकर दो विभिन्न दिशाओं की ओर मुड़ेगी, तुम किसके साथ होगी; यह कौन जाने? पर ऐ प्रिये! अगर उन दिनों में कहीं बहता हुआ—अति पतित दशा में, तुम्हें मिला, तो क्या तुम मुझे पहचानोगी? - यह सोचोगी कि कभी

इससे मेरा प्रेम नहीं तो परिचय अवश्य था ? या इस अपरिचित (अपरिचित नहीं, तो क्या ? यह ऐसी पहचान इस प्रकृति-चपल चितवन के लिए कितनी स्थायी होगी ? आज मुझे हेर रही है, कल दूसरी तरफ रुख फेर लेगी, अगर मैं यही समझता कि आज की मैत्री चिरन्तन है, तो मुझे इस प्रकार अविश्वास या आशङ्का प्रकट करने की क्या आवश्यकता होती ?) गैर-पहचानी प्यारी चितवन को खोलती,—दूसरी ओर मुड़कर मुसकिराती हुई अपने 'परम-प्रिय' के साथ नवीन-सुख के अतल जल में डूब जाओगी ?

इस पद्य में 'बहते' तथा 'परम-प्रिय'—पदों द्वारा भावों को प्राप्त होनेवाली उद्दाम, उत्तेजना, उज्ज्वल उत्कर्ष पर क्षण भर दृष्टिपात करना चाहिए। कवि कहलाना चाहता है, "यह जो उच्छृङ्खल प्रेम की परम प्रखर धार है, आज हम दोनों जिसकी ललित लोल लहरियों पर लहरा रहे हैं, तैर-तैर कर किलोल कर रहे हैं, निश्चय ही कभी नित्य-सुख की साधक नहीं हो सकती, इससे मुझे मानव-जीवन का लक्ष्य-कूल कदापि नहीं मिल सकता; मुझे भविष्य में उत्थान-कल्याण या सुख-भोग की कल्पना नहीं करनी चाहिए, विशेषतया तब, जब कि तुम्हारा साथ भी छूटने वाला है—इसलिए अगर मैं कहीं 'बहता' हुआ मिला।

"परम-प्रिय" में बड़ा ही मार्मिक व्यङ्ग छिपा हुआ है। वह कहता है कि 'उसके भाग्य की बात कौन करे, मुझे छोड़कर तुम जिसके पास चली जाओगी, जिसकी वजह से भविष्यत् में मेरे बहने तक की सम्भावना है। इसलिए वह तो ज़रूर ही प्रिय (मुझ से) से बढ़कर परम-प्रिय होगा। जिसे पाकर तुम आनन्द के अपार पारावार में डूब जाओगी, अपने आज के इस परिचित—प्रिय को पहचानने लायक भी शायद नहीं रह सकोगी, उसके परम-प्रिय होने में भला संशय ही क्या है ? इस कविता में पश्चिमी-शैली के स्वतन्त्र प्रेम (Free love) का वर्णन है। भावों में भारतीय अपनापन नहीं; पर उच्छ्वसित भावुकता है। कम से

कम शब्दों में कितना अधिक अर्थ-गौरव भरा हुआ है !

(ञ) कवि तरङ्गों से पूछता है—"तुम जिस उमंग, उल्लास से बहती चली जा रही हो, बताओ तो सही, आज अपनी समस्त साधना किसे समर्पित करोगी ? आज किसके स्वर से अपना वर्षों का एकान्त-गान मिला दोगी ? आज किस विशाल वक्षःस्थल में विश्राम ग्रहण करना चाहती हो ? जहाँ तुम छिप जाओगी, और हाय ! अब से यह तुम्हारा गान मुझे सुनने को नहीं मिलेगा ?" इस पद्य में कवि की भाव-तन्मयता विलोकनीय है। यह 'हाय' शब्द जैसे उसके हृदय की अपनी ही पुकार है। ये तरंगें जैसे उसकी अपनी हैं कोई,—प्रकृति के साथ उसके हृदय की ऐसी ही एकाकारता है, उनके छिपने पर जैसे उसकी कोई प्रिय वस्तु खोई जा रही है। वह अधीर होकर उच्छ्वास छोड़ता है—'हाय, अब से तुम गाओगी भी नहीं !'

(झ) कवि विशुद्ध दार्शनिक—योगी के समान जब आत्म-साक्षात्कार करता है, तो उसके प्रबुद्ध हृदय में केवल ज्योति, केवल भूमा ही शिष्ट रह जाती है। कहा गया है कि—"**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।**" अर्थात् उस 'पर तथा अवर' के दर्शन होते ही हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय संदेह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, साधक के सब वाह्य कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। तभी '**एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।**' इसी स्थिति का वर्णन है। घोसले में पड़े हुए पंछी की अँधेरी रात बीत गई। [अपनी ही दैहिक मर्यादा में सीमित 'आत्मा' (अहम्) का अज्ञानान्धकार दूर हुआ] गगन का विस्तृत अनन्त पथ मुक्त हो गया। अखिल-निखिल विश्व को आत्माकार देखने लगा। इस उज्ज्वल प्रभात में मुक्त-पंख होकर उड़ान भरते ही कोई अनजान नहीं नजर आता। एक ही पहचान सब की है—ज्योति, अर्थात् सब ओर केवल ज्योति ही ज्योति दीख पड़ती है। [यही 'भूमा' का स्वरूप है, "यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति,

नान्यद्विजानाति''—जहाँ अपने से अतिरिक्त न और कुछ दीख पड़ता है, न सुन पड़ता है और न ज्ञात ही होता है। और, जहाँ अपने से विभिन्न और कुछ दीख पड़ता है, वही 'अल्प' है, अज्ञान है, दुःख है। सुख केवल ज्ञान में—भूमा में है। ज्ञान आनन्दमय है।

"जो निज मन परिहरै विकारा
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख
संशय, शोक अपारा"]

—तुलसीदास

मैं द्वन्द्व-रहित आनन्द में आत्म-रूप से स्थित हूँ। ज्ञान का समुद्र वीचि-विहीन है। यहाँ ज्वार-भाटे, उत्थान-पतन की तनिक भी आशङ्का नहीं। यह जिस स्थिति (Mood) का द्योतक पद्य है, निराला, Browning-ऐसे दार्शनिक कवियों के जीवन में उसकी अनेकशः सम्भावना होती है। 'गीताञ्जलि', 'नैवेद्य' 'खेया' 'सोनारतरी' आदि के अनेक गीत कवीन्द्र रवीन्द्र के किसी ऐसे ही 'मूड' विशेष के हैं। उनके लोक-जीवन से उन अलौकिक भावों की तुलना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि तब वे दिव्य-भाव केवल हवाई कल्पनाएँ, स्वर्णिम स्वप्न ही मालूम पड़ेंगे।

(ज) १--यद्यपि हवा के हल्के झोंके से पेड़ की कोपलें हिल-डोल रही है, पर कवि कहता है कि ऐसा नहीं, कँपने का कारण कुछ और ही है, उन्हें इस बात का बडा डर है कि कहीं उनके प्यारे फूल चुन न लिए जायँ! 'भीरु और 'थरथराते' इस आलङ्कारिक भाव को और भी अधिक रमणीय बना रहे हैं। जैसे सुकोमल किसलय-दल सचमुच ही डर गए हों; सचमुच थर-थर करने लगे हों,— कितनी बहुमूल्य निधि की लूट का भय है उन्हें!

२ **"तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान"** — नामक गीत में निर्विण्ण हृदय से कवि अपनी व्यर्थता बताता हुआ —किसी अज्ञात शक्ति को सारा श्रेय प्रदान कर रहा है। उसका कथन है कि वह यन्त्र-परिचालित, निमित्तमात्र है। वस्तुतः किसी दूसरे ही के द्वारा

गान गाया जाता है, और वह गान भी उसीका अपना है। यहाँ आध्यात्मिक तो है ही, पर कवि के Melancholic mood का उच्छ्वास-स्पर्श यह जैसे काव्य-साधना को लक्ष्य कर है। वह कहता है—मेरा दुःख अरण्य है, घनघोर जंगल, जिसका कहीं ओर-छोर नहीं,—नवोदित ताम्र किसलय—पेड़ो की टहनियों में नई निकली लाल-लाल कोपलें, मेरे ही अन्तर के अंगारे हैं। और तुम मेरी दीनता की विनत लता पर कूकनेवाली कोयल, (मेरी कविता!) उसी अंगारे में जल कर जैसे काली पड़ गई हो!

३ - किसी रूपसी की वयस्सन्धि का वर्णन है। वह अभी बालिका भी है और जरा जवान भी। तरुणाई की तरफ धीरे-धीरे कदम बढ़ा रही है। इसी धीरता पर कवि की कमनीय कल्पना है कि—उसे अपने शैशव से ऐसा सहज स्नेह है, बचपन पर इतनी जबर्दस्त ममता है कि वह उसकी चाल छोड़ना ही नहीं चाहती; उसका साथ छोड़ते झिझकती है, जैसे इसीलिए हौले-हौले, डरती-डरती, जवानी की ओर पग बढ़ा रही है,—फिर एकाएक युवती कैसे हो जाती?

४ - होली—मधुयामिनी में का प्रिय-पति स्वकीया के साथ शृङ्गार वर्णन है। रंग महल में एक ओर चिराग जल रहा है और वह हँसती-हँसती धीरे-धीरे अपने मुख-कमल को प्रकाश में ला रही है। पद्य में है—'**कज-छबि मंजु-मंजु हँस खोली**,' अर्थात् मधुर-मधुर हँसती हुई उसने कमल की छवि खोली, कमल की शोभा को विकास दिया। यों तो चिराग को सामने देखकर उसे अनायास हँसी आ जाती है और फिर धीरे-धीरे उसका खिला हुआ, कमल-सा मुखड़ा सामने आता है। पर यहाँ वह चिराग सूरज का प्रतीक-सा प्रतीत होता है। इसीलिए उस पर नजर पड़ते ही उसका मुख-कञ्ज मृदु-मृदु खुलता और खिलता जाता है। कैसी सुन्दर कल्पना है! यह कञ्ज का स्वभाव है कि वह सूर्य्य ही के सामने खुलता खिलता है। और यहाँ तो चिराग को देखते ही वह शर्मिन्दा होकर मुसकिरा देती है—यही जैसे उस छवि का खुलना है!

२

उद्यान में भाँति-भाँति के फूल खिले हुए हों, उनकी छवि देखने योग्य ही होती है, पर यदि एक कविता में अनेक भाव हों, और वे सब पृथक्-पृथक्, परस्पर असम्बद्ध हों तो उनकी कुरूपता भी देखने ही योग्य होगी,—वे भाव क्यों न जनक-नन्दिनी के लावण्य के लिए ही लाए गए हों, पर उनकी कीमत शूर्पणखा के इन्हीं विद्युत्स्फुरित भावों की तरह आँकी जायगी—

"प्रकृति की सारी सौन्दर्य्य-राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं, नजर बचाती हैं—
अञ्चल से मानों हैं छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।"

—'पञ्चवटी-प्रसङ्ग'

आधुनिक अनेक कवियों की कविताओं में भावों के परस्पर असम्बन्ध का दोष प्रायः पाया जाता है। परन्तु निराला जी ने विभिन्न भाव-सुमनों की पावन वनमाला बड़े ही कौशल से बनाई है, वह कविता-देवी के गले में बहुत-बहुत फबती है, उन्हें स्वयं भी विश्वास है—

"लखो, दिया है पहना
किसने यह हार बना
भारति उर में अपना
देख दृग थके!"

—'मित्र के प्रति'

परन्तु इसके पूर्व उन्होंने बड़ी कड़ी साधना की है; कठिन श्रम किया है,—'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' प्रभृति महत्कविताओं मे उनका श्रम सुस्पष्ट लक्षित हो जाता है। जहाँ तक वे classical हैं, सर्वत्र ही उन्हें

नियम-संयम, शास्त्र-अभ्यास की उच्च अनुवर्त्तिता करनी पड़ी है, चतुरस्र सौन्दर्य्य की सुरक्षा के लिए संनद्ध शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। उनके प्रखर पाण्डित्य तथा प्रदीप्त प्रतिभा का सार्वभौम परिचय भी वहीं प्राप्त होता है। 'सरोज-स्मृति' 'सेवा-प्रारम्भ' आदि कविताएँ उनके कवि-हृदय के मधुरतर-स्तर से अपने आप आविर्भूत हुई हैं, यहाँ हृदय-पक्ष ही प्रबल है, इसलिए इनमें पूर्वोक्त कविताओं-जैसी अलौकिक चमत्कार-कारिता नहीं, मर्मस्पर्शिनी प्रिय भावना है।

कुछ लोगों की उग्र सम्मति पाण्डित्यपूर्ण कविताओं के विरोध में होती है। माघ-मिल्टन-माइकेल, अतएव, उनके विचार से बहुत बड़े नहीं,—यहाँ मेरा मत उनसे नहीं मिलता। मेरा कहना है कि जो पाण्डित्य रस-पोषक, दोषों का दूरतः परिहार कर निरवद्य सौन्दर्य्य की सृष्टि करने में सर्वथा समर्थ हो, कवि को उसकी अपेक्षा अवश्य करनी चाहिए, पर जो केवल प्रदर्शन के लिए—कमजोरों पर रोब गालिब करने भर के लिए हो, उसकी, उसे रस-व्याघात-हेतु समझ कर, उपेक्षा कर देनी चाहिए। जो कुछ हो, मुझे शिशुपालवध, स्थल-विशेष को छोड़ कर नीरस नहीं लगता; 'मेघनादवध' में सौन्दर्य्य से अधिक 'शक्ति' देखकर भी द्रुति कम नहीं होती, They also serve who only stand and wait' का विद्वान कवि मिल्टन हृदयहीन नहीं प्रतीत होता और सबसे बढ़कर यह कि सस्ती भावुकता का मैं दीवाना नहीं। मैं उच्चकोटि के काव्य को जनता (अपढ़, निरक्षर भट्टाचार्य्यों) की वस्तु नहीं मानता, पहले लिख चुका हूँ, और सरलता के कारण सुप्रसिद्ध कालिदास आदि को भी तथाकथित जनता नहीं समझती, खूब समझ चुका हूँ। निरालाजी ने कठिन से कठिन तथा सरल से सरल निर्माण कर दोनों ही मतों की मान्यता स्वीकृत की है। दोन ही प्रकार के पाठक उनसे परिचित होंगे। अब भाव-सम्बद्धता के कुछ उदाहरण यहाँ प्रसङ्ग-प्राप्त हैं:—

'बादल' कविता में "सव्यसाची (अर्जुन) से तुम अध्ययन

अधीर" से आरम्भ किया हुआ रूपकात्मक भाव, "तुम आये; रथ का घर्घर-नाद, तुम्हारे आने का संवाद" प्रभृति पंक्तियों से पुष्ट होता हुआ "आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास" पर परिसमाप्त होता है। इन बाईस पंक्तियों में कहीं भी क्रम-भङ्ग या असंयम नहीं। 'जुही की कली', 'जागृति में सुप्ति थी', 'शेफालिका', 'जागो फिर एक बार', 'कवि', 'प्रेयसी' आदि मुक्तवृत्तों की सृष्टि तो और भी अधिक भाव-क्रम से संघटित है, वहाँ छन्दों भर की मुक्ति है, भाव परस्पर सम्बद्ध, जकड़े ही हुए हैं।

निरालाजी की सब से बड़ी कविता 'तुलसीदास' है। इसका आरम्भ मुगलकाल के भारत का वर्णन करते हुए, तुलसीदासजी के आविर्भाव से होता है। उस समय हिन्दू संस्कृति को यवनों के आक्रमण से जो सांघातिक चोट पहुँची थी, प्रथम उसी का संक्षेप में दिग्दर्शन है। कवि कहता है—

" 'भारत' के आकाश-मण्डल को प्रभामय बनानेवाला हिन्दू-संस्कृति का सूर्य क्रमशः ठंडा पड़ता हुआ आज अस्त हो गया। अब सब ओर अन्धकार ही अपनी विजय-दुंदुभि बजाने लगा है, उसीका एकच्छत्र साम्राज्य अशेष दिशाओं में स्थापित हो चुका है। हिन्दुओं के शिर की रक्षा करते हुए मुसलमान उनके हृदय पर शासन कर रहे हैं—वह हिन्दुओं को एक बार ही मारना या मरने देना नहीं चाहते, उनके हिन्दुत्व को—'निज की' सांस्कृतिक भावनाओं को कुचल देना चाहते हैं। इस प्रकार भारतीयता की जलधारा ऊपर-ऊपर से तो लहरें ले रही है पर उसके प्राण-स्थान कमल में स्पन्दन नहीं है। सन्ध्या-समय शतदल की भास्कर-विकस्वर सुषमा दुष्प्राप्य होगी ही'।

"यह शत-शत वर्षों की भारतीय संस्कृति की आकुंचित भ्रुकुटि और कुटिल भाल वाली संध्या सजल जलदावली की भाँति भारत के सम्पूर्ण गगन-मण्डल को व्याप्त किए हुए है, उसी की छाया में देश के सब प्रान्त क्रमशः पराजित होकर, घिर-घिरकर आ रहे हैं। पहले पंजाब हारा, तब

कोशल, विहार, और फिर तो सभी हारते चले गए।

कालिंजर; जो वीरों का दुर्गम गढ़ था, अब उन्हीं 'सिंहों' के लिए वह पिंजड़ा—बंदी-गृह बन गया है। हाँ, इस सङ्कट के समय सब सोए ही नहीं रह गए, हिन्दुओं ने चुपचाप इस्लाम का प्रभाव नहीं स्वीकृत कर लिया। आर्य्य संस्कृति के सम्मान की रक्षा के लिए, आन-बान-शानवाले कितने-कितने वीर बाँके अपनी-अपनी जान पर खेल गए। कुछ नपुंसक, नामर्द राजों ने वश्यता, दासता भी स्वीकृत कर ली! इस प्रकार अन्ततोगत्वा इस्लाम की विजय हुई, भारतीय जीवन विदेशी संस्कृति से प्रभावित होकर धीरे-धीरे उसी के अनुरूप ढल चला। दूसरे शब्दों में भारतीय संस्कृति के सूर्य्य के अस्त होने पर इस्लाम संस्कृति के चन्द्रमा का उदय हुआ—देश में वैदेशिक विलासिता अट्टहास करने लगी। जैसे पानी में बहता हुआ फूल लक्ष्यहीन, उद्देश्यच्युत होता है उसी प्रकार यह देश भी नवीन संस्कृति के प्रवाह में गति-विधि-हीन होकर बह चला। इसने अपना मौलिक ज्ञान एकदम ही खो दिया। उस प्रवाह का जल यद्यपि इसे बार-बार 'छल' 'छल' 'छल' कह रहा था, पर अब यह इतना मोह-जड़, वासना-वधिर, या मन्त्र-मुग्ध हो चुका था कि इसे कल-कल रव ही सुनाई पड़ता था। छल की बात सुनकर भड़क उठने की शक्ति एकदम ही नष्ट हो चुकी थी। अब यह उस प्रवाह की शोभा बढ़ानेवाला, किनारे पर की चट्टान-जैसा था। ठीक इसी समय तुलसीदास जी का राजापुर में आविर्भाव हुआ। तुलसीदास जी का शैशव, कैशोर सब उज्ज्वल, प्रतिभापूर्ण रहे। आरम्भ भविष्य की सौभाग्य-सुषमा का सूचक निकला। प्रभात दिवस की दशा का दिग्दर्शक हुआ! उन्होने शनैः-शनैः शारीरिक, मानसिक सब प्रकार का विकास प्राप्त किया। अपने समवयस्कों में प्रमुख रहे, सर्वश्रेष्ठ हुए।

"युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन,
समधीतशास्त्र काव्यालोचन

जो, तुलसीदास, वहीं ब्राह्मण-कुल-दीपक,
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय,
अपने प्रकाश में निःसंशय,
प्रतिभा का मंद्-स्मित परिचय, संस्मारक ।"

एक दिन वह अपने सखाओं के साथ चित्रकूट गए। वहाँ की पावन वन-भूमि देख कर उनके हृदय में एक अति नवीन प्रकाश आया। उन्हें मालूम हुआ, जैसे वहाँ के अणु-अणु उनसे कुछ निवेदन कर रहे हैं—पर उनकी अस्पष्ट भाषा के धूमिल प्रकाश में लुकते-निखरते भावों को वह साफ-साफ पढ़ नहीं सके। चिन्ता मे डूब गए। जैसे प्रकृति के ये मनोभाव पूर्व-परिचित हों, उन्हें सही-सही पहचानने की कोशिशें करने लगे। उन्हों ने देखा, प्रकृति उन्हें छाती से लिपटा लेने के लिए जैसे अपनी वाहु-वल्लरी फैला रही थी।

"भर लेने को उर में, अथाह
बाहों में फैलाया उछाह !"

वह कह रही थी, "कवि ! क्या देख रहे हो ? मै तो अब पहली-सी नहीं रही, मेरी छवि छिन गई; धूल में मिल गई, दासता-पाश में बँध कर मेरे अंग-अंग झुलस गए। तुम मुक्ति के अमृत गान गाओ ना ! फिर एक बार जड़ देश में नव-जीवन का सञ्चार करो। सब दुखी हैं, अज्ञान-जन्य यातनाएँ भोगते हुए करुण-क्रन्दन कर रहे हैं, तुम इन्हें अपने ज्ञानालोक में ले आओ, सुख-शान्ति के सन्देश सुनाओ, इनका उद्धार करो।"

"वह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल
हो गया चित्त कवि का त्यों तुल कर उन्मन,
वह उस शाखा का वन विहंग
उड़ गया मुक्त-नभ निस्तरङ्ग
छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन।"

फूलों की खुशबू से लदी हुई हवा जैसे वन के मन को व्याकुल कर देती है, तुलसीदास का हृदय भी प्रकृति का यह ऐसा मूक-मुखर सन्देश सुन कर उसी प्रकार उन्मन हो गया। वह पंछी जो पार्थिव-पिंजड़े के सीखचों से घिरा था, उन्मुक्त आकाश की ओर अबाध गति से उड़ चला, अगोचर सत्य के सन्धान में, उज्ज्वल प्रकाश-प्राप्ति की आस से धीरे-धीरे रंगीनियों को छोड़ता हुआ, पार करता हुआ।

किंतु उसी क्षण वहाँ अनन्त आकाश में उन्हें अपनी प्रियतमा की प्रेममयी प्रतिमा दिखलाई पड़ी, जो इस दुष्पार पथ पर दुस्तर नदी को भाँति ज्ञात हुई। उसी के प्रेम-पाश में पड़ कर उनका मन असिद्ध साधक के समान विचलित हो गया। सम्पूर्ण प्रकृति अपनी प्रेयसी के रंग मे रँगी लगने लगी। रास्ते भर वह उसी मोह-माधुरी का पान करते हुए सखाओं के साथ घर वापस आ गए।

इधर रत्नावली का भाई उसे लिवाने आया। वह तुलसीदास के प्रेमाम्बुधि में ऐसी तीव्र वासना से डूब गई थी कि उसे कभी नैहर (मातृकुल) की याद तक नहीं आती। जब भाई ने व्यङ्ग्य और उपालम्भ सुना-सुना कर उसकी सुषुप्त शालीनता को जागरित किया, वह अवसर मिलते ही नैहर जाने को प्रस्तुत हो गई। और ज्योंही तुलसीदास कुछ सामान खरीदने के खयाल से बाजार की ओर गए, त्यों ही वह भाई के साथ भाग गई। लौटने पर तुलसीदास ने सूना घर देखा और तुरंत ताड़ लिया कि वह मायके चली गई। फिर क्या था? वह भी उसी समय ससुराल चल दिए।

और, नीरव निशीथ में सालियों, सलहजों के मृदु-मधुर हास-परिहास के अनन्तर विदा लेने पर, रत्नावली तुलसीदास के पास आकर खड़ी हुई। इसके पहले वह भाभियों की फबतियाँ सुन-सुन कर ऐसे कामुक पति की गति पर सिर धुन चुकी थी। घर में छन भर सन्नाटे का आलम रहा। फिर,

"कुछ समय अनन्तर, स्थित रह कर

स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भर कर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—
"धिक् ! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए;
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए !"

पपीहे ने स्वाती की बूँदों की जगह जब वज्र-प्रहार पाया तो उसके होश दुरुस्त हो गए। वह कामात्मता अंगारों-से जलते अक्षरों से क्षार ही नहीं, क्षार-क्षार हो गई। और, तुलसीदास के मन का मानव, जो मरा जा रहा था, उस अलौकिक आलोक के प्रिय स्पर्श से केवल जी ही नहीं उठा, अमर हो गया, चिरन्तन हो गया।

रत्नावली ने जसे अपनी ही ज्वाला से अपनी रूप-राशि जला डाली थी, तुलसीदास उसकी वह अरूपता देख विनत हो गए। उन्होंने उससे, उसी के दिए हुए ज्ञानालोक को बाह्य-लोक में विकीर्ण करने के लिए जैसे, हमेशा के लिए विदा ले ली। और, तब 'आविष्ट देवी' की 'सहज नारी' की आँखों मे आँसू की बूँदें छलछला आईं। लेकिन अब तुलसीदास के चरण तो अशरण, अवश-से अनन्त अज्ञात की ओर बढ़े चले जाते थे।

सम्पूर्ण काव्य का यह ऐसा संक्षिप्तसार मनोयोगपूर्व्वक देख लेने के बाद, मेरे विचार से, यह कहना अनावश्यक ही होगा कि यह कविता किस प्रकार मनोवैज्ञानिक सूत्रों से अनुक्रम गुँथी हुई है !

अब मैं निराला जी की निर्मल-सजल कविता 'सरोज-स्मृति' से कुछ

पंक्तियाँ, जो सम्बद्ध भावों, और अनुभवों से भादों की घन-घटा की भाँति उमड़ी-घुमड़ी हैं, लिखकर इस प्रसंग को यहीं समाप्त करूँगा। 'सरोज-स्मृति' कवि की अट्ठारह वर्षों की एकमात्र कन्या, सरोज-कुमारी की मृत्यु पर लिखी हुई कविता है। इस प्रकार की, कई पश्चिमी कवियों (ग्रे, आर्नल्ड आदि) की कविताएँ मैंने पढ़ी हैं, पर यह एक अत्युक्तिहीन सत्य है कि 'सरोज-स्मृति' की मिश्र-कला उनमें से किसी में भी नहीं है।

"ऊनविंश पर जो प्रथम-चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु-तरण
तनये, ली कर दृक्-पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण !

गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अजर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचि-तर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण
कह, "पितः, पूर्ण-आलोक-वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण
सरोज का ज्योतिश्शरण-तरण !"

अशब्द अधरों का सुना भाष,
मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश—
मैंने कुछ, अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।

जीवित कविते, शत-शर-जर्जर
छोड़ कर पिता को पृथ्वी पर
क्या गई स्वर्ग तू यह विचार

"जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह अक्षम अति, तब मैं सक्षम
तारूँगी कर गह दुस्तर-तम।"

कहता तेरा प्रयाण सविनय
कोई न अन्य था भावोदय
श्रावण-नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गई पार।"

ये पंक्तियाँ लगातार कही गई हैं; किन्तु कहीं-कहीं विशृंखल-सी भी लगती हैं, पर बात ऐसी है कि बीच-बीच में कवि का अपनी ओर मोड़ लेना विशृंखलता नहीं, कला-प्रदर्शन है। यह कला पन्तजी ने भी अनेकशः दरसाई है। सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है।

"किस छवि, किस मधु के मधुर भाव?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव?
कवि से रे किसका क्या दुराव!"

—गुञ्जन

यहाँ पर 'कवि से रे किसका क्या दुराव' *बिलकुल बेसुरा मालूम पड़ता है, पर वह वैसा है नहीं। कारण, कवि अपनी ओर मोड़ लेते हुए—जैसे,* "देखूँ सबके उर की डाली" *का अपना अधिकार जतलाना चाहता है। वह यह बतलाना चाहता है कि कवि से किसी का क्यों वैमनस्य होगा, इसलिए उसे सब अपना दिल खोल-खोलकर दिखलाएँगे और वह देखेगा। यद्यपि यह शक्ति उसे जन्म-प्राप्त है, पर ऐसा कहना ही तो कला है। अन्यथा—*

"जीने-मरने में खेद नहीं
हँसने-रोने में भेद नहीं
यह शाश्वत, इसमें छेद नहीं"

—कश्चित्

को भी कविता कहने की कसम खानी पड़ेगी, जहाँ कुछ 'दार्शनिक तथ्य' शृङ्खलित शब्दों में झटिति प्रतीत्यर्थ व्यक्त किए गए हैं।

३

जिस तरह निरालाजी की कविताओं के आरम्भ, परिपोष परम-प्रतिभामूलक हैं, उसी प्रकार उनकी सुन्दर परिसमाप्ति भी। ब्रजभाषा-काल में घनाक्षरी और मनोहरण की अन्तिम पंक्ति ही पूरी कविता की जान होती थी, पर यह बात संस्कृत-साहित्य में बहुत कम, प्रायः नहीं है। अँगरेजी में Finishing touch की बड़ी पूछ है। आधुनिक कविताएँ उसी से प्रभावित है। रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' 'भैरवी' और 'अभिसार' तथा अन्य अनेकशः कविताओं की परिसमाप्ति बड़ी ही अद्भुत, बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। गीताञ्जलि भी समाप्ति की इस कला से ओत-प्रोत है। पर मैं यहाँ अपने कवि की ही इस कला के दो-चार उद्धरण दूँगा, जो मेरा प्रकृत विषय है।

(क) सर्व प्रथम 'तुलसीदास' कविता को देखिए। छः सौ पङ्क्तियों की इस कविता का आरम्भ—

"भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे"

कहकर किया गया था, तब तुलसीदास ने जन्म ग्रहण किया था, पर ज्ञान-प्राप्ति के बाद, (जैसे उन्हीं के द्वारा सांस्कृतिक रश्मि का पुनः प्रसार हुआ हो!) उन्होंने घर से बाहर निकलते ही देखा—

संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल
प्राची दिगन्त-उर में पुष्कल रवि-रेखा।"

यह है परिसमाप्ति की कला। अस्त से आरम्भ किया, फिर सूर्य्योदय ही पर समाप्ति। जैसे एक ही रात्रि में तुलसीदास ने सारे व्यामोहतम को

पार कर प्रकाश पा लिया।

(ख) "मित्र के प्रति" कविता में—

"कहते हो. नीरस यह बन्द करो गान
कहाँ छन्द, कहाँ भाव, कहाँ यहाँ प्राण
था सर प्राचीन सरस, सारस हंसों से हँस
वारिज वारिद में बस, रहा विवश प्यार
जलतरङ्ग ध्वनि कल-कल, बजा तट मृदङ्ग सदल
पैंगें भर पवन कुशल गाती मल्लार।"

से शुरू कर, अपनी सकल-साधनाओं और उन्मुक्ति के मुक्त विचारों से समलंकृत कर, अपने पूर्ण विश्वास और प्रकाश से परिसमाप्ति की गई है—

"लखो दिया है पहना, किसने यह हार बना,
भारति, उर में अपना, देख दृग थके।"

(ग) "प्रथम-प्रभात" कविता में—

"प्रथम चकित-चुम्बन-सी स्निग्ध समीर
कँपा त्रस्त अम्बर के छोर"

—ऐसी अतिशय भाव भरी पंक्तियों से प्रारम्भ कर, और —

"वातायन में कर-कोमल आघात"

—ऐसे चटुल स्पर्श से सहृदयों का हृदय गुदगुदाते हुए, प्रकाश से समाप्ति की गई है:—

"जग कर मैंने खोला अपना द्वार
पाया मुख पर किरणों का अधिकार।"

यहाँ यह कला विकास की सीमा पर पहुँच गई है। उस की विस्तृत विवेचना अवश्य यहाँ सम्भव नहीं। इस दिग्दर्शन को आत्म-मनन का इङ्गितमात्र समझना चाहिए।

इसी प्रकार **"निशा के उर की खुली कली"**—*नामक गीत में—*

"मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग, उर थर-थर-थर,
काँप उठा वन में तरु-मर्मर,
चली पवन पहली।"

से समाप्ति करते हुए अपनी प्रतिभा का आश्चर्यकर आलोक दिखलाया है। शब्दों की सरलता के कारण तो भाव किसी भी सहृदय से तुरत मैत्री कर लेते हैं।

'शेफालिका' कविता में—

"बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्य्यङ्क पर सोती शेफालि के।"

—ऐसी मधुर कोमल पंक्तियों से आरम्भ कर, शृङ्गार-रसात्मक भावों की समाप्ति, अमर-विराम पर की गई है, और यह दार्शनिकता प्राकृतिकता से सूनी भी नहीं। जैसे उसके सत्य-पथ पर पहुँच जाने की प्रमाण-स्वरूप यह सचाई दिखलाई गई हो –

"आशा की प्यास एक रात में भर जाती है,
सुबह को आली, शेफाली झर जाती है।"

'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता की समाप्ति-कला भी विलोकनीय है:—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रहा है।"

से आरम्भ की गई चित्रमयी कविता की सुन्दर परिसमाप्ति अत्यन्त कठिन है, विशेषतया तब जबकि केवल तसवीर बनाना कवि का लक्ष्य नहीं। पर इसका उद्धरण मैंने जब जब देखा है, तब-तब तसवीर ही के प्रसंग में। यहाँ इसकी परिसमाप्ति पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। कवि ने इसे किस प्रकार भाव-चित्र पर, अन्तश्चित्र पर समाप्त किया है! जब संध्या धीरे-धीरे उतर आती है, तब आगे उसका विराम कहाँ होता है? कवि कहता है—

"अर्द्ध रात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन।"

जिस प्रकार वह 'सखी "नीरवता" के कन्धे पर डाले बाँह छाँह-सी' अम्बर से उतरी थी, उसी प्रकार निशीथ की नीरवता में ही उसने अवसान भी पाया। प्राकृतिक सत्य की हैसियत से भी उस समय संध्या अन्तर्हित ही हो जाती है,— पर कविता यहीं समाप्त नहीं होती, कवि ने उस प्रकृति के साथ जो प्रणय-स्थापित किया था, जिसकी वजह से वह अमूर्त्त भी सौंदर्य की परम प्रतिमा प्रतिभासित हो रही थी—

"हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से"

और

"अलसता की - सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली।"

आदि विविध सौन्दर्य्य भङ्गिमाएँ उसके प्रत्यङ्ग में तरंगित होती दीख रही थीं—अब उसका विरह उसे सताने लगा, वह नीरव निशीथ में भी शान्ति की कल्पना नही कर सकता—फिर ?

"विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।"

इसे समाप्ति की कला कहते हैं।

और एक 'उदाहरण' देकर मै अनपेक्षित विस्तार के भय से यह प्रसंग यही समाप्त करूँगा।

"बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोला
उठी सँभाल बाल मुख लट पट दीप बुझा हँस बोला
रही यह एक ठठोली।"

ये पंक्तियाँ—"नयनो के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली"—नामक शृङ्गार-रस की, कवि की एक श्रेष्ठ कविता की, समाप्ति की हैं। इसमें जिस शृङ्गार, सौन्दर्य का प्रकटीकरण किया गया है, उसकी पूरी

व्याख्या में बहुत ज्यादा जगह घिरेगी, मैं यहाँ अन्तिम स्पर्श पर ही विचार करना चाहता हूँ। इस कविता को खत्म करना बड़ा खतरनाक था, यह पूरी पढ़कर कोई भी सहृदय समझ सकता है, विशेषतया नग्नता न आने देने का प्रयत्न रखने पर। पर कवि ने इसके अवसान में कमाल कर दिया है, "प्रातःकाल स्वास्थ्य-प्रद अनुकूल वसन्त-समीर का सुख-स्पर्श पा तरुणी उठती है, पूरी रात तो सुखद बातों (कितना आच्छादन है!) ही में बीत चुकी थी—[उसने उस रात को बिताया नहीं; क्योंकि यह तो भार को व्यञ्जक होता, वह खुद बीत गई, जैसे उसे अभी उसकी और आकांक्षा बनी थी!] और सर्व-प्रथम मुख, लट, पट आदि सँभालती हुई चिराग बुझा देती है (यहीं—इसी बुझाने में, कला का प्रकाश मिलता है; क्योंकि अब तक सब से अधिक उसे वह चिराग ही खटक रहा था, जैसे उसी की लाज ने उसे 'अनारी' कर रक्खा था, अब तो उसे गुल करती हुई, तुरत हँसकर बोलती ही है। दूसरे—'खुशी के वक्त में क्या काम जलनेवालों का? टहरा) और जरा मुसकराती हुई कहती है—'वह तो एक दिल्लगी थी।' क्या 'दिल्लगी' है?

उपसंहार

इस प्रकार अभिव्यञ्जना की दिशा में विविध-विध व्यञ्जनाओं का चमत्कार प्रदर्शित कर निराला जी ने इतिवृत्तात्मक हिन्दी-काव्य का नए सिरे से शृङ्गार किया है। उनके अथक प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप अब हिन्दी-कविता विश्व की सभी समृद्ध भाषाओं की समकक्षता में खड़ी की जा सकती है;—सभी सुसम्पन्न साहित्यिक कृतियों से -विषय, वातावरण एवं व्यञ्जनाओं के अनुरूप—उसकी तुलनात्मक समीक्षा की जा सकती है। यहां यह निर्दिष्ट होना आवश्यक है कि इस युगान्तर उपस्थित करने की प्रक्रिया में सर्वत्र निराला के साथ पन्त का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। ई० सन् १९२० के लगभग से एक युग तक की हिन्दी-कविता के सम्पूर्ण सौन्दर्य्य विवर्त्त या रूप-रस-सौरभमय वासन्तिक विकास का अर्थ ही निराला और पन्त है।